श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ८
अंक : ४
विनाशाय च दुष्कृताम्

नीतिवचनामृत

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥

भल भ्रमिवो गिरिगहन पथ करि वनचर सँग नेह।
नहीं मूढ-संगति भली सुरपति हू के गेह॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥

प्रकट लोभते होत हैं काम-क्रोध प्रतिकूल।
मोह-मीच हू लोभते लोभ पापको मूल॥

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेतुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः॥

घर आये पै कीजिये अरि हू को सत्कार।
तरु छेदक के पास सों छाया देत न टार॥
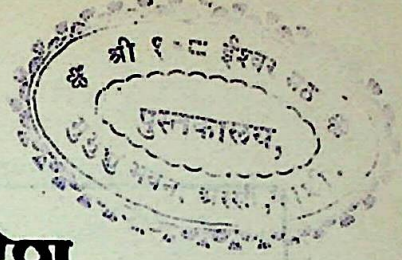
श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

सम्मानित

● सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

डॉ० भगवान् सहाय पचौरी

● सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

संख्या ●

वर्ष : ८, अङ्क : ४

नवम्बर, १९७२

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९८

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

: प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-सन्देश

प्रबुद्ध पाठकोंकी दृष्टिमें

प्राप्त-पत्र

संमान्य श्री शास्त्रीजी महाराज,

सप्रेम प्रणाम ।

पं० श्री देवधरजीकी सद्‌भावनासे प्रतिमास 'श्रीकृष्ण-सन्देश' पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है । इस मासिक पत्रिकाका बहिरंग एवं अन्तरंग अत्यन्त आकर्षक तथा प्रेरणाप्रद है । आपकी सुललित कविताएँ, लेख तथा निगमामृत, सूक्ति-सुधा और नीतिवचनामृत मननीय एवं संग्राह्य ही हैं । निगमामृत-पुस्तकका प्रकाशन होनेपर उसकी प्रति यहाँ भेजनेकी अवश्य कृपा करेंगे ।

'श्रीकृष्ण-सन्देश' का उत्तरोत्तर विकास होकर वह प्रगति-पथपर ही बढ़ रहा है । श्रीकृष्ण-सन्देशके सफल संपादनके लिए आप स्वयं व सम्मान्य श्री प्रबन्ध-सम्पादक तथा सुशिक्षित सम्पादक-मण्डल हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं । इसी सद्भावनाके साथ—

शुभचिन्तक

आनंशङ्कर पाठक

व्यवस्थापक

श्री गीता रामायण परीक्षा समिति

गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम, मार्ग-

ऋषिकेश (पौढ़ी गढ़वाल)

उ० प्र०

१६.१०.७२

अनुक्रम

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२९ कार्तिक शुक्ल नवमी बुधवार १५-११-'७२ से अगहन शुक्ल एकादशी शनिवार १६-१२-'७२ तक]

नवम्बर : १९७२ ई०

तिथि	वार	व्रत-पर्व
१५	बुधवार	अक्षय नवमी।
१७	शुक्रवार	प्रबोधनी एकादशी व्रत, कालिदास-जयन्ती।
१८	शनिवार	प्रदोष-व्रत।
१९	रविवार	वैकुण्ठ चतुर्दशी।
२०	सोमवार	कार्तिक पूर्णिमा, रासपूर्णिमा, गुरुनानक-जयन्ती।
२४	शुक्रवार	गणेश-चतुर्थी व्रत।

दिसम्बर : १९७२ ई०

तिथि	वार	व्रत-पर्व
१	शुक्रवार	उत्पन्ना एकादशी व्रत।
२	शनिवार	प्रदोष-व्रत।
४	सोमवार	मासशिवरात्रि व्रत।
५	मंगलवार	अमावास्या।
९	शनिवार	वै० चतुर्थी व्रत।
११	सोमवार	अगहन शु० ५ श्री रामविवाहोत्सव।
१६	शनिवार	मोक्षदा एकादशी, गीता-जयन्ती।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान :

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

(नवम्बर १९७२)

★

मोरीशस द्वीपसे आकर मैंने श्रीकृष्ण भगवानके मन्दिरका दर्शन किया। इस मन्दिरका दर्शन पाकर मेरा मन शुद्ध हुआ। मैं इस मन्दिरके कर्मचारियों और संचालकोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा सभी लोग हृदयसे करेंगे।

रामनारायण
मन्त्री—मोरीशस सरकार

मैंने श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान देखा, बहुत ही अच्छा लगा। सौभाग्यसे ही दर्शन हुआ।

सावित्री नियाणी
(ब्रजलालजी नियाणी) अकोला

श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानके जिन्होने उद्धार एवं पुनः निर्माणकी योजना बनायी है, हिन्दू जाति ही नहीं, समस्त मानव जाति उनकी चिर ऋणी रहेंगी।

सोहनलाल द्विवेदी
राष्ट्रकवि, विन्दकी, जि० फतेहपुर (उ० प्र०)

मस्जिदके साथ ही मन्दिर हमारी राष्ट्रीय भावात्मक एकताका प्रतीक बन सकता है। यह तभी सम्भव है जब इसे भारतीय इतिहासकी पृष्ठ-भूमिमें किया जाय। भगवान् कृष्णने गीतामें मानव-धर्मका मार्गदर्शन कराया है, अतः यह सबसे उपयुक्त स्थान हमारी राष्ट्रीय एकताको मजबूत करनेके लिए बनाया जा सकता है।

राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी
अध्यक्ष—कांग्रेस-समिति

मन्दिर देखकर प्रसन्नता हुई। प्रबन्ध अच्छा है।

श्यामसुन्दर उपाध्याय
राज्य-मन्त्री (उ० प्र०)

शुभ कामनायें।

डी. पी. यादव
उपमन्त्री शिक्षा और समाज-कल्याण (भारत सरकार)

Delighted we feel, not only to visit the Janmabhoomi—Sri Krishna Janmasthan Sewa Sangh's organisations—but also to spend sometime and to have PRASADA here (at the Guest House). The Bhagwat Bhawan under Construction is very finely conceived by people with imagination we wish the work in progress a perfection, execution and speedy completion. While wishing every success & invoking divine blessings for all those who have given donations & who are working on this project;

We hope that the Bhawan will serve as a model of the Hindu way of life, elements of Pravachana and Bhajan may be introduced to ensure an atmosphere of piety and devotion.

Biswanath Das
Ex. Governor Uttar Pradesh
17-10-72
Vijaya Dashmi Day

To-day is Sharad-Purnima. I have the fortune to pay my homage & prostrated obeisances to the supreme Lord Sree Krishna in His Birth-Place with about 175 members and devotees of Sree Chaitanya Gaudiya Math organisation which has its parent Math at Ishodyan—Sree mayapur, Dist. Nadia, West Bengal, working head quarters at 35, Satish Mukharjee Road Calcutta-26 (Phone No 46-5900) and branch Maths in different parts of India & outside we started our Ban-yatra this year on & from 22-10-72 for a month. People from different places of India have joined us.

I am very much delighted to see the advancement of the proposed construction of Sree Bhagwat Bhawan : Hope by the grace of the supreme Lord Sree Krishna people of the whole world will get the chance to visit this Holiest place in the universe and take absolute Shelter at His Divine feet and make there life most blessed.

B. D. Madhav
President, Sree Chaitanya Gaudiya
Math organisation, 22-10-72

वर्ष : ८] मथुरा : अक्टूबर, १९७२ [अङ्क : ४

धर्मयुद्ध, समत्वबुद्धि और कर्मयोग

[गीता दूसरा अध्याय]

जो सदा स्वधर्मपर ही दृष्टि रखता हो, धर्मके विरुद्ध कोई पग उठाना न चाहता हो उसे भी युद्धका नाम सुनकर कांप उठनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि न्यायप्राप्त युद्ध अधर्म नहीं धर्मसंगत कर्तव्य है। उस धर्म-युद्धसे बढ़कर कोई श्रेय नहीं है; विशेषतः उसके लिए, जो देश या समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन करना चाहता हो। दैवेच्छासे प्राप्त युद्ध स्वर्गका खुला द्वार है। जिन्हें ऐसे युद्धके लिए अवसर प्राप्त होता है, वे क्षात्रधर्म-परायण वीर ही वास्तवमें सुखी हैं। जो मोह या अधर्मकी कल्पित विभीषिकासे डरकर धर्मयुद्धका स्वागत नहीं करता वह स्वधर्म और सुयश दोनोसे हाथ धो बैठता है और उसे केवल पापका भागी होना पड़ता है। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारी भी यही गति होगी। कोई धर्मकी कितनी ही दुहाई देकर क्यों न युद्धसे पराङ्मुख हुआ हो, उसकी प्रशंसा नहीं होती, उसपर सदाके लिए कायरताका कलंक थोप दिया जाता है। वह अमिट अकीर्तिका भागी होता है। जिसका सदा शूरवीरके रूपमें समादर होता आया हो, उस संभावित पुरुषके लिए अपकीर्ति मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायिनी होती है। वे उस अपयशको देखने-सुननेकी अपेक्षा मर जाना पसन्द करते हैं। माना कि तुम धर्माधर्मके विचारसे

ही युद्धसे दूर भागते हो, परन्तु दूसरे महारथी योद्धा इसपर विश्वास नहीं करेंगे। वे तुम्हें भयसे ही युद्ध छोड़कर भागा हुआ मानेंगे। जिनके हृदयमें तुम्हारे लिये बहुत ऊँचा स्थान था, उनकी दृष्टिमें तुम गिर जाओगे, लघु हो जाओगे। तुम्हारे शत्रु इस अवसरपर तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुम्हारे प्रति न कहने योग्य कुवाच्य कहेंगे। इससे बढ़कर दुःखकी बात तुम्हारे-जैसे वीर पुरुषके लिए दूसरी क्या हो सकती है ? यदि युद्धमें तुम मारे गये तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा और यदि तुम्हारी जीत हुई तो पृथ्वीका राज्य भोगोगे। दोनो हाथ लड्डू है। अतः तुम युद्धका ही दृढ़ निश्चय लेकर खड़े हो जाओ, आगे बढ़ो। युद्धमें सुख और दुःख दोनों मिलसकते हैं, तुम दोनोंको समान समझो, लाभ-हानि और जय-पराजयको भी समान ही मानो। इस समताको लेकर ही युद्धमें लग जाओ। ऐसी दशामें तुम्हें पाप नहीं लगेगा। यह बुद्धि सांख्य या ज्ञानके अनुसार बतायी गयी है; अब इसीका कर्मयोगके अनुसार वर्णन सुनो। इस समत्व-बुद्धिसे युक्त होनेपर तुम कर्म-बन्धनसे छूट जाओगे। इसमें अभिक्रम (आरम्भ या बीज) का नाश नहीं होता, इसको करनेसे प्रत्यवाय (पाप) भी नहीं लगता। इस कर्म-योगका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा करता है।

निश्चयात्मिका बुद्धि एक है, यही व्यवसायीकी—प्रमाणजनित विवेक-बुद्धिसे युक्त पुरुषकी बुद्धि है; परन्तु जो अव्यवसायी हैं—प्रमाणजनित पिवेक-बुद्धिसे हीन हैं, उनकी अनेक भेदोंवाली बुद्धियाँ अनन्त हैं। व्यवसायी संसार-बन्धनसे मुक्त होता है और अव्यवसायीका संसार-बन्धन निरन्तर अत्यन्त विस्तारको प्राप्त होता है। कुछ लोग वैदिक अर्थवाद युक्त फल-श्रुतियोंसे आकृष्ट हो भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तिके कारण अपहृतचित्त हो जाते हैं; उनमें व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती है, उनकी बुद्धि स्थिर यहीं हो पाती है। अतः त्रिगुणात्मक संसारको प्रकाशित करनेवाले वेदवाक्योंके चक्करमें न पड़कर तुम्हें निर्द्वन्द्व, योग-क्षेमकी चिन्तासे मुक्त तथा आत्मवान् (प्रमाद-रहित) होना चाहिए।

तुम्हारा काम कर्म करना है, फल चाहना नहीं। तुम कर्मफलकी प्राप्तिमें कारण न बनो और न निकम्मेपनमें ही तुम्हारी आसक्ति होनी चाहिए। आसक्तिको त्यागकर योगस्थ होकर कर्म करो। सिद्धि हो या असिद्धि, उसमें समान भाव रखकर कर्म करो। इस समताको ही योग कहते हे, जिसमें स्थित होकर तुम्हें कर्म करना है। समत्व-बुद्धिरूप योगसे कर्म निम्न है, अतः उस बुद्धिका ही आश्रय लो। फल चाहनेवाले लोग दीन समझे जाते हैं। समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको यहीं त्याग देता है। अतः तुम समत्वबुद्धिरूपयोगकी प्राप्तिके लिए यत्न करो; क्योंकि वह योग ही कर्ममें कुशलता है। समत्वबुद्धिसे युक्त मनीषी जन कर्म-जनित फलको त्याग कर जन्म-बन्धनसे मुक्त हो समस्त उपद्रवोंसे रहित (अनामय) पदको प्राप्त होते हैं। जब तुम्हारी बुद्धि मोहकी कालिमाको पार कर लेगी, उस समय तुम सुने हुए और श्रोतव्य फलकी ओरसे निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त हो जाओगे। जब श्रुति-वाक्योंसे विक्षेपको प्राप्त हुई तुम्हारी बुद्धि आत्मचिन्तनमें स्थिर हो जायगी, तब तुम्हें योगकी प्राप्ति हो सकेगी। तभी तुम उक्त समत्व-बुद्धिमें स्थित हो सकोगे या स्थितप्रज्ञ बन सकोगे। (क्रमशः)

जय-जय जगदाधार हरे !

अखिलेश्वर ! चर-अचर सभीके तुम आत्मा अन्तर्यामी,
सब भरणीय कुटुम्ब तुम्हारे तुम पालक सबके स्वामी।
क्या चिन्ता जब चार भुजाएँ हैं सदैव रखवार हरे !
जय-जय जगदाधार हरे ॥

ग्राह पाशसे मुक्त किया था तुमने ही गजराज हरे !
भरी सभामें रक्खी तुमने द्रुपद-सुताकी लाज हरे !
आर्तजनोंके परित्राणको खड़े सदा तैयार हरे !
जय-जय जगदाधार हरे ॥

कालचक्र भी झुक जाता है चक्र-सुदर्शनके आगे,
पांचजन्यकी ध्वनि सुनते ही असुर अनाचारी भागे।
गदा हरे गद, आनन्द कनन्दक करमें तलवार हरे !
जय-जय जगदाधार हरे ॥

मुरली मधुर बजा मधुवनमें मधुर गीत तुम गाते हो।
कुरुक्षेत्रके समरांगणमें सारथि-कला दिखाते हो।
प्रेमीके प्रियतम द्रोहीके विद्रोही दुर्वार हरे !
जय-जय जगदाधार हरे ॥

दुष्ट यहाँ आनन्द भोगते साधुवृन्द सहते पीडा,
धर्म रसातलको जा पहुँचा क्रूर-नियतिकी हो क्रीडा।
दूर करो दुर्दशा देशकी लो फिरसे अवतार हरे।
जय-जय जगदाधार हरे ॥

श्री 'राम'

सच्चिदानन्दका साक्षात्कार

श्री अरविन्द

★

जिसे हम दुःख, शोक, पीड़ा एवं आनन्दका अभाव कहते हैं, वह भी सत्ताके आनन्दकी एक उपरितलीय लहरमात्र है। यह हमारे मानसिक अनुभवके निकट आपात-विरोधी रंग-रूप धारण कर लेती है। कारण एक प्रकारको मायाके वश हमारी विभाजित सत्ता इस लहरको अपने भीतर मिथ्यारूपमें ही ग्रहण करती है। यह विभाजित सत्ता कथमपि हमारी सत्ता नहीं, बल्कि चिच्छक्तिकी एक खण्डात्मक रूपरचना या विकृत फुहारमात्र है, जिसे हमारी आत्म-सत्ताके अनन्त-सागरने ऊपरकी ओर उछाल फेंका है। इस सत्यका अनुभव करनेके लिए हमें अपनी मनोमय सत्ताकी उथली आदतों एवं क्षुद्र चालोंमें ग्रस्त रहनेकी अवस्थासे परे हो जाना होगा। निश्चितरूपेण इनसे परे हो जानेपर हमें यह देख आश्चर्य होता है कि ये कितनी छिछली हैं। तब ये इतनी हलकी और ऊपरी-सी मामूली चुभन सिद्ध होती हैं कि इनपर हँसी ही आती है। इसके साथ ही हमें सच्ची सत्ता और सच्ची चेतनाको तथा सत्ता और चेतनाकी सच्ची अनुभूतिको, **सत्, चित् आनन्द**को भी उपलब्ध करना होगा।

चित् अर्थात् भावगत चेतना हमारी मानसिक आत्म-चेतना नहीं है। अनुभवसे हमें पता चल जायगा कि यह तो केवल एक रूप, एक निम्नतर एवं सीमित प्रकार या गति है। जैसे-जैसे हम विकसित होंगे और अपने तथा वस्तुओंके अंदर विद्यमान आत्माके प्रति जागरित होंगे, वैसे-वैसे हमें अनुभव होगा कि पौधेमें, धातुमें, अणुमें, विद्युत्‌में, और भौतिक प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तुमें भी चेतना है। हमें यह भी पता चलेगा कि यह वस्तुतः सब बातोंमें मानसिक चेतनासे अधिक निम्न या सीमित प्रकारकी भी नहीं, बल्कि अनेक जड़ पदार्थोंमें तो यह अधिक प्रगाढ वेगमय और तीव्र है, यद्यपि उनमें उपरितलपर प्रकट होनेके लिए यह अभी अपेक्षाकृत कम ही विकसित हो पायी है। किन्तु यह भी अर्थात् प्राणिक और भौतिक प्रकृतिकी यह चेतना भी, **चित्** की तुलनामें निम्नतर और अतएव सीमित रूप, प्रकार एवं गति है। चेतनाके ये निम्नतर प्रकार एक ही अभिमाज्य सत्ताके अन्तर्गत निम्न-स्तरोंका चित्तत्त्व हैं। हमारे भीतर भी हमारी अवचेतन सत्तामें एक ऐसी क्रिया है, जो ठीक उस 'जड़' भौतिक प्रकृतिकी ही क्रिया है जिससे हमारी भौतिक सत्ताका आधार गठित हुआ है। हमारे अंदर एक और क्रिया भी है, जो वनस्पति-जीवनकी है। फिर एक और भी है, जो हमारे चारों ओर की निम्नतर जीव-सृष्टिकी है। चेतनाकी ये सब क्रियाएँ हमारे अन्दरकी विचारशील एवं तर्क-प्रधान चित्-सत्ता द्वारा

इतनी अभिभूत और मर्यादित हैं कि हमें इन निम्नतर स्तरोंका कुछ भी वास्तविक भान नहीं होता। हम इनकी अपनी परिभाषाओंमें यह जाननेमें असमर्थ हैं कि हमारे ये भाग क्या कर रहे हैं। इनकी क्रियाका ज्ञान हम विचारशील और तर्कप्रधान मनके लक्षणों और मूल्योंमें अत्यन्त अपूर्ण रूपसे ही पाया करते हैं।

फिर भी हम काफी अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे अन्दर एक पाशविक भाग है तथा एक ऐसा भाग भी है, जो विशिष्ट रूपसे मानवीय है। एक तो ऐसी सत्ता है जो सचेतन सहज प्रेरणा और आवेगसे युक्त तथा विचार या विवेक-बुद्धिसे रहित प्राणीकी है। एक और सत्ता भी है जो उसके अनुभवकी ओर अभिमुख होकर उसपर फिरसे विचार और संकल्पकी क्रिया करती है और ऊपर उच्चतर स्तरकी ज्योति और शक्तिके साथ इसे मुक्त करती है और कुछ अंशमें इसका नियंत्रण, प्रयोग तथा संशोधन भी करती है। किन्तु मनुष्यमें अवस्थित पाशविक भाग हमारी अवमानवीय सत्ताके ऊपरका सिरामात्र है। इसके नीचे ऐसा बहुत कुछ है जो पाशविकसे भी निम्न है किंवा केवल प्राणिक है। ऐसा बहुत कुछ है जो अंध-प्रेरणा और आवेगके वश कार्य करता है। उस प्रेरणा और आवेगका गठन करनेवाली चेतना उपरितलके पीछे अंतर्हित है। इस अवपाशविक सत्ताके नीचे और भी अधिक उतरकर एक अवप्राणिक सत्ता है। जब हम योगसे प्राप्त होनेवाले इस अतिसामान्य आत्मज्ञान और अनुभवमें आगे बढ़ते हैं तो हमें पता चलता है कि शरीरकी भी अपनी एक चेतना है, इसके भी अपने अभ्यास एवं आवेग हैं, अपनी सहज प्रवृत्तियाँ हैं। इसमें एक निष्क्रिय और प्रभावशाली संकल्प भी है जो हमारी शेष सत्ताके संकल्पसे भिन्न प्रकारका है और इसका प्रतिरोध है तथा इसके प्रभावको सीमित कर सकता है। हमारी सत्तामें जो संघर्ष पाया जाता है, उसका अधिकतर कारण यह है कि इन विभिन्न और विषमजातीय स्तरोंकी सत्ताएँ उक्त प्रकारसे परस्पर मिश्रित हैं तथा ये एक-दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया भी करती रहती हैं। क्योंकि मनुष्य यहाँ एक विकासका परिणाम है और निरी भौतिक तथा अवप्राणिक चेतन-सत्तासे लेकर अपनी सत्ताके वर्तमान शिखरतक अर्थात् मानसिक प्राणीकी सत्ता तकके इस संपूर्ण विकासको वह अपने अंदर धारण किये हुए है।

किन्तु यह विकास वस्तुतः एक अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार हममें ये अवसामान्य सत्ताएँ एवं अवमानवीय स्तर हैं, ठीक उसी प्रकार हमारी मानसिक सत्ताके ऊपर अति-सामान्य एवं अतिमानवीय स्तर भी है। यहाँ चित्-सत्ताके विश्वव्यापी चित्तत्त्वके रूपमें अन्य स्थितियोंको भी ग्रहण करती है, किन्ही अन्य रूपोंमें विचरण करती है, कर्म करनेके किन्हीं अन्य नियमोंके अनुसार तथा अन्य शक्तियों द्वारा कार्य करती है। जैसा कि प्राचीन वैदिक ऋषियोंने खोज निकाला था, मनके ऊपर एक सत्य-भूमिका है, अर्थात् स्वतः-प्रकाशमान एवं स्वयं-शक्तिशाली विचारका एक स्तर है, जिसकी ज्योति और शक्तिको हमारे मनपर, हमारी तर्क-बुद्धि और भावनाओंपर हमारे आवेगों और संवेदनोंपर प्रयुक्त किया जा सकता है। वह वस्तुओंके वास्तविक सत्यके अर्थके अनुसार इन सबका ठीक वैसे ही उपयोग एवं नियंत्रण भी कर सकता है, जैसे हम अपने तर्कमूलक और नैतिक बोधोंके अर्थमें अपनी इन्द्रियानुभूति और

पाशविक प्रकृतिका उपयोग और नियंत्रण करनेके लिए इनपर अपने मानसिक तर्क और संकल्पका प्रयोग करते है। सत्यके इस स्तरमें ज्ञानकी खोजका काम नहीं है, यहाँ तो है उसपर सहज-स्वाभाविक प्रभुत्व। यहाँ संकल्प और तर्कबुद्धि, सहज-प्रेरणा और आवेग, कामना और उपलब्धि, विचार और सद्वस्तुमें कोई विरोध या भेद नहीं होता। प्रत्युत ये सब एकस्वर, सहचारी तथा परस्पर-फलोत्पादक होनेके साथ-साथ अपने उद्‌गम एवं विकास और अपनी चरितार्थतामें भी एकीभूत होते हैं।

किन्तु इस स्तरसे परे और इसके द्वारा प्राप्त हो सकनेवाले अन्य स्तर भी हैं, जिनमें साक्षात् चित् ही हमारे सामने प्रकाशित हो उठती है। वह चित् जो यहाँ नानाविध रूप-रचना और अनुभूतिके लिए प्रयुक्त की जानेवाली इस समस्त विविध चेतनाओंका मूल उद्‌गम एवं आद्य पूर्णत्व है। उन स्तरोंमें संकल्प, ज्ञान, संवेदन तथा हमारी अन्य सब वृत्तियाँ, सब प्रकारके अनुभव केवल समस्वर, सहचारी और एकभूत ही नहीं होते, बल्कि चेतनाकी एक ही सत्ता और शक्तिके रूपमें उपस्थित होते हैं। यह चित् ही अपने-आपको इस प्रकार परिवर्तित करती है कि सत्यके स्तरपर अतिमानसका रूप धारण कर लेती है और मनके स्तरपर मानसिक बुद्धि, संकल्प, भावावेदनका तथा इससे नीचेके स्तरोंपर एक ऐसी अन्धकारमय शक्तिकी प्राणिक या भौतिक अन्धप्रेरणाओं, आवेगों और अभ्यासोंका रूप धारण कर लेती है जो उपरितलपर अपने ऊपर कोई सचेतन अधिकार नहीं रखती। सब कुछ चित् है, क्योंकि सब कुछ सत् है। सब कुछ मूल चेतनाकी नानाविध गति है, क्योंकि सब कुछ मूल सत्ताकी नानाविध गति है।

जब हम चित्‌को प्राप्त कर लेते, देख या जान लेते हैं, तो हमें यह भी पता लग जाता है कि इसका सारतत्त्व अपनी सत्ताका आनन्द आत्माको प्राप्त करनेका अर्थ है, आत्मानन्द प्राप्त करना। आत्माको प्राप्त न किये होनेका अर्थ है, सत्ताके आनन्दकी कम या अधिक अस्पष्ट खोजमें लगे रहना। चित् सनातन कालसे अपने आनन्दसे युक्त है, क्योंकि वह सत्ताका विश्वव्यापी चित्तत्त्व है। चिन्मय विराट् पुरुष भी सचेतन आत्मानन्दसे युक्त है, सत्ताके विश्वव्यापी आनन्दका स्वामी है। भगवान् चाहे अपने-आपको सर्वगुणमय रूपमें प्रकट करें या निर्गुण रूपमें, व्यक्तित्वके रूपमें या निर्व्यक्तित्वके रूपमें, बहुको अपने अन्दर विलीन किये हुए एकमेवके रूपमें अथवा अपने तात्त्विक बहुत्वको प्रकट करते हुए एकमेव रूपमें; पर वे सदा ही आत्मानन्द और विराट् आनन्दको अधिकृत किये रहते हैं, क्योंकि वे नित्य ही सच्चिदानन्द है। हमारे लिए भी अपने सच्चे आत्माको उसके मूल और विराट् स्वरूपमें जानने और प्राप्त करनेका अर्थ है, सत्ताका मूल और विश्वव्यापी आनन्द, आत्मानन्द और विराट् आनन्द उपलब्ध करना। क्योंकि विराट् आत्मा मूल सत्ता, चेतना और आनन्दका बाहरकी ओर प्रवाहमात्र है। जहाँ कहीं तथा जिस भी रूपमें यह अपनेको किसी सत्ताके आकारमें प्रकट करता है, वहाँ मूल चेतनाका अस्तित्व अवश्य है, अतएव वहाँ मूल आनन्द भी अवश्य विद्यमान है।

व्यक्तिकी आत्मा अपनी सत्ताका यह सत्य स्वरूप प्राप्त नहीं कर पाती अथवा अपने अनुभवके इस सत्य स्वरूपको उपलब्ध नहीं कर पाती, क्योंकि यह अपने-आपको मूल सत्ता और विराट् आत्मा दोनोंसे पृथक् कर लेती है और अपनी सत्ताके पृथक् आकस्मिक संयोगोंके साथ,

अतात्त्विक स्वरूप और प्रकृति तथा पृथक् अङ्ग एवं करण-विशेषके साथ अपने-आपको एकाकार कर लेती है। इस प्रकार यह अपने मन, शरीर तथा प्राणधाराको अपनी वास्तविक सत्ता मान बैठती है। यह इन्हें इनकी अपनी खातिर विराट् सत्ता तथा उस परात्परके विरुद्ध, जिससे विराट् सत्ता प्रकट हुई है, प्रबल रूपमें प्रतिष्ठित करनेका यत्न करती है। किसी अधिक महान् और परेकी वस्तुके लिए विराट्के अन्दर अपने आपको प्रस्थापित तथा चरितार्थ करनेका यत्न करना इसके लिए उचित है, किन्तु विराट्के विरोधमें तथा उसके एक खण्डात्मक रूपके अधीन होकर ऐसा करनेका यत्न करना उचित नहीं। इस खण्डात्मक रूपको या यों कहें कि खण्डात्मक अनुभवोंके इस समुदायको यह मानसिक अनुभवके एक कृत्रिम केन्द्र, मानसिक अहंभावके चारों ओर इकट्ठा कर लेती है तथा इस अहंकी सेवा करती है।

साथ ही, ये सभी रूप, यहाँतक कि विशालतम एवं व्यापकतम रूप भी, जिस महत्तर और परतर वस्तुको आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं, उसके लिए जीनेके बजाय यह इस अहंके लिए ही जीती है। किन्तु यह मिथ्या आत्मामें जीवन धारण करना है, सच्ची आत्मामें नहीं; भगवान्के लिए तथा उनके आदेशानुसार नहीं। किन्तु यह पतन हुआ कैसे और किस प्रयोजनके लिए हुआ ? यह प्रश्न योगकी अपेक्षा कहीं अधिक सांख्यके क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है। हमें तो बस क्रियात्मक तथ्यको हृदयंगम कर लेना होगा कि ऐसा आत्म-विभाजन ही हमारी चेतनाकी सीमितताका कारण है इसी सीमितताके कारण हम अपने अस्तित्व और अनुभवका सच्चा स्वरूप उपलब्ध करनेमें असमर्थ बन बैठे हैं। अतएव अपने मन, प्राण और शरीरमें अज्ञान, असमर्थता और दु ख-कष्टके अधीन हो गये हैं। एकत्वकी अप्राप्ति ही मूल कारण है; एकत्वको फिरसे प्राप्त करना ही सर्वोपरि साधन है। यह एकत्व हमें विराट्के साथ ही नहीं, उस सत्ताके साथ भी प्राप्त करना होगा, जिसे प्रकट करनेके लिए यहाँ विराट् आत्मा उपस्थित है। हमें अपने तथा सबके सच्चे आत्माका साक्षात्कार करना होगा। सच्चे आत्माके साक्षात्कारका मतलब है, सच्चिदानन्दका साक्षत्कार !

●

भैया-दूजका पावन पर्व

भाई-बहनके सहज, शुद्ध एव निःस्वार्थ प्रेमका स्मरण दिलानेके लिए प्रतिवर्ष भैया-दूजका पावन पर्व आता है। इस दिन बहन-भाईको मिष्टान्न-भोजनके साथ अपनी सम्पूर्ण सद्भावना अर्पित करती है और भाई बहनका समादर करके कृत-कृत्यताका अनुभव करता है।

●

जीवनका लक्ष्य क्या है ?

श्री काका कालेलकर

★

एक सज्जनने, जो अपनेको हमेशा विद्यार्थी ही मानते हैं, आध्यात्मिक प्रश्न भेजे हैं। उन्हें जीवनका लक्ष्य समझना है।

'ईश्वरकी उपासना' और कर्मोंकी शुद्धता' दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है ? जीवनमें किसे प्रथम और अवश्य अपनाना चाहिए ?'

प्रश्नकी भाषा परसे तो दोनोंमें भेद दीख पड़ता है सही। लेकिन थोड़ी गहराईमें उतरनेसे मालूम होगा कि दोनोंमें पूर्ण एकता न हो तो भी पूरा समन्वय अवश्य है।

'ईश्वरीय उपासना' हो या 'कर्मकी शुद्धता', दोनोंका अन्तिम उद्देश्य 'जीवनकी आध्यात्मिक उन्नति' ही है।

हम इस दुनियामें आये, तब भगवान्‌की ओरसे हमें केवल एक ही पूँजी मिली थी। वह है 'जीवन जीनेका मौका'। जीवन जीते हुए हम ऐसी साधना चलायें कि 'जीवनकी आध्यात्मिक उन्नति होती रहे' और 'अन्तमें हमें परमेश्वरकी प्राप्ति हो।'

अब हमारा जीवन है ही 'ज्ञान, कर्म और भक्तिके समन्वय'से बना हुआ। इन तीनमेंसे केवल एकका उत्कर्ष हो नहीं सकता। एक ही समस्त जीवनके ये तीन पहलू हैं।

अध्यात्मने हमें हमेशा समझाया है कि जीव, जगत् और जगदीश अथवा परमात्मा—तीनोंके सहयोगसे हमारा जीवन चलता है। हम पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रियवाला शरीर लेकर आये हैं। मन, बुद्धि आदिकी प्रेरणाके अनुसार हम जीवन जीते हैं। उस जीवन-साधना द्वारा हम परमात्माको समझने लगते हैं। उसका अस्तित्व मान्य करके, जीवन द्वारा यानी कर्म द्वारा उसकी भक्ति करते हैं और अंतमें या तो 'उसके चरणोंमें पहुँच जाते हैं' (द्वैतवाद) या 'उस परमात्मामें पूर्णतया विलीन हो जाते हैं (अद्वैतवाद)।

भगवान्‌की मूर्ति बनाकर उसके आस-पास एक मन्दिर बनाना अथवा मन्दिरके बिना ही उसकी पूजा-अर्चा चलाना आदि बातें बिलकुल प्राथमिक स्वरूपकी उपासना हैं। सच्ची अथवा पूरी ईश्वर-उपासनामें हम 'विश्व'को ही 'विष्णु'का आद्य अवतार मानते हैं। ('विष्णुसहस्र नाम'के प्रारंभमें ही भगवान्‌के ये दो नाम एकत्र दिये हैं और इन्हींसे स्तोत्रका प्रारम्भ किया है।)

पुराणोंने कहा है 'विश्व'के उद्धारके लिए ही 'विष्णु'के दस, चौवीस या अनन्त अवतार होते हैं और होनेवाले हैं। भले ही उपासना और सेवामें स्वरूप-भेद हों; पर तात्त्विक भेद नहीं। सेवा ही उत्कट उपासना है। जब हम किसी दु:खीकी सेवा करते हैं तो मनमें कहते हैं: 'प्रत्यक्ष भगवान् ही हमें अपनी सेवा करनेका मौका देनेके लिए इस रूपमें आये हैं।' हम प्रारंभमें भले ही 'दयाभाव'से सेवा करें, उसमें 'परोपकार'की वृत्ति हो। लेकिन सेवारूपी कर्मकी शुद्धि करते-करते इस भूमिकापर आ जाते हैं कि 'सेवा द्वारा हमें दु:खी व्यक्तिके साथ एकरूप बनना है। इसीमेंसे भेदभक्ति जागरित होती है। जो भी कर्म हम करें, उसे शुद्ध करते-करते उसका स्वरूप 'उपासना' ही हो जाता है। कर्मके बिना उपासना हो नहीं सकती। केवल 'चिन्तन' अथवा 'चिन्तनात्मक भक्ति' पूर्ण उपासना नहीं है। उपासना संपूर्ण जीवन द्वारा शरीर, मन, बुद्धि और भावना सबके सहयोग द्वारा ही होनी चाहिए। उसके अन्तिम स्वरूपमें 'परोपकार'की अशुद्ध भावना रहनी नहीं चाहिए। परोपकारमें अहंकार आ जाता है, अभिमान भी रहता है।

हमने ईश्वरकी उपासना और कर्मशुद्धि परस्पर पोषक बतायी और उसमें अन्तिम एकताका अनुभव करनेकी साधना बतायी। लम्बी-चौड़ी, तात्त्विक चर्चा करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। ऊपर चिन्तनकी जो दृष्टि बतायी, उनके अनुसार साधना करनेपर दोनों एक ही हो जाते हैं। फिर श्रेष्ठ-कनिष्ठका सवाल उठता ही नहीं।

जो लोग अद्वैतवादी हैं, वे ऊपरके विवेचनाको आसानीसे समझ जाते हैं। जब द्वैतवादी भक्ति उत्कट होती है, तब वे भी 'ईश्वर-स्वरूपमें लीन या तल्लीन होनेकी साधना' मान्य करते हैं। शुद्ध सत्यका अनुभव समन्वयतक ले ही जाता है। समन्वय सिद्ध होनेके बाद द्वैतवाद और अद्वैतवाद परस्पर विरोधी नहीं रह पाते।

× × ×

कहते हैं कि 'दरिद्र-नारायणकी सेवा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। क्या यह हमारे जीवनका उचित लक्ष्य है?

सामान्य लोग कहते हैं कि 'दु:खी-दरिद्र लोगोंके प्रति मनमें दयाभाव लाकर उनकी मदद करना हमारा धर्म है। हर एक सदाचारी मनुष्यमें परोपकारकी भावना होनी ही चाहिए।'

किसी धर्म-भावनाको जब हम जीवन-साधना बनाने जाते हैं, तो दु:खी-दरिद्र व्यक्तिको प्रत्यक्ष नारायण समझनेसे प्रारम्भ करते हैं। यहाँ दरिद्र' शब्द केवल 'धन-दारिद्य'का द्योतक नहीं है। जो भी आदमी संकटमें आ गया है और संकट दूर करनेकी स्थितिमें नहीं है, उसकी लाचारी व्यक्त करनेके लिए ही 'दरिद्र' शब्द काममें लाया गया है।

'नारायण' शब्द हो ले लें। नर-नारीके समूहको संस्कृत में 'नार' कहते हैं, जिसमें भूतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यमें दुनियामें आनेवाले सभी स्त्री-पुरुषोंका समावेश हो

जाता है : 'नराणां समूहः नारम्' ऐसा नार जिसके रहनेका 'अयन' (स्थान) है, उसीको कहते हैं 'नारायण' । अंग्रेजीमें कहते हैं : The God of total Humanily. यह नारायण हर एक व्यक्तिके हृदयमें विद्यमान है । वह हमें सेवा करनेका मौका देनेके लिए दीन-दुखीके रूपमें हमारे सामने प्रकट होता है । जब हम उसकी मदद या सेवा करते हैं तब, चूँकि वह नारायणका ही एक रूप है, वह हमारी मदद या सेवा आप-ही-आप पूजा या उपासना बनती है । हम जैसे मनुष्यकी (केवल मनुष्यकी क्यों, किसी भी प्राणीको) कठिनाई देखते ही द्रवित होकर उसकी सेवाके लिए दौड़ जाना—यही है धर्म और उसी क्रियाको उपासनाका रूप देना । यही है सर्वोच्च जीवन-साधना । जीवनका दूसरा उद्देश्य है ही नहीं, और न हो ही सकता है ।

ऊपर हमने स्पष्ट किया ही है, 'दरिद्र'के मानी केवल धन-दरिद्र नहीं और न उसकी सेवा केवल द्रव्य-दान द्वारा करनेकी ही बात है । 'अज्ञान' व्यक्तिको 'ज्ञान' देना, 'जड़' व्यक्तिमें 'जिज्ञासा' जागरित करना, अन्याय सहन करनेवाले पीडित व्यक्तिकी ओरसे लड़ने-लड़ते प्राणार्पण करना और इस अन्तिम सेवा द्वारा 'पीडित व्यक्ति'में तेजस्विता जाग्रत् करना और परपीडक दुष्ट व्यक्तिमें प्रथम 'लज्जा'का उदय करना और बादमें उसमें 'सज्जनता' स्थापित करना—यह सब दरिद्र-नारायणकी सेवामें आ जाता है ।

ऐसी सेवा केवल एक व्यक्तिकी नहीं होती, व्यक्तियोंके समूहकी सेवा भी इसमें आ जाती है । 'नराणां समूह'में सारा राष्ट्र और समस्त मानवता भी आ जाती है ।

जब गांधीजी-जैसे महात्मा दरिद्र-नारायणकी सेवाकी दीक्षा देते हैं, तब वह दीक्षा केवल वैश्योंको दानी बनने मात्रकी सूचना नहीं करती । किन्तु जहाँ-जहाँ किसी भी क्षेत्रमें सेवा द्वारा विश्वात्मैक्य-अनुभव करनेका मौका है, वहाँ यही दीक्षा अपनी प्रेरणा देती जाती है ।

हम जिस संसारमें आये और हमें 'मनन करनेकी शक्तिवाले मानव'का रूप मिला, उसका अन्तिम लक्ष्य ऊपर बतायी हुई सेवा अथवा उपासना द्वारा परमात्म-प्राप्ति ही हो सकता है ।

●

धन्वन्तरि-त्रयोदशी

कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको भगवान् धन्वन्तरिका प्राकट्य अमृत-कलशके साथ हुआ । वे आयुर्वेदचिकित्साके आदि प्रवर्तक हुए । मर्त्य-जगत्को अमृत या चिरस्थायी स्वास्थ्य (आरोग्य) देनेके लिए यहाँ उनका शुभागमन हुआ था । हमें इस दिन उनका स्मरण करना और आयुर्वेदिक चिकित्साको अधिकाधिक विकसित करनेका व्रत लेना चाहिए ।

●

आजकी अनिवार्य आवश्यकता

धर्म ही हमारी राजनीति बने !

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

नैतिकताके राष्ट्रव्यापी ह्रासके विषयमें सभी लोक दुःख प्रकट करते हैं जो सभी सज्जनोंको एक भारी निराशावादमें ला डालता है। करीब-करीब सभी नेता, राजनैतिक कार्यकर्ता और दलोंके प्रमुख सदस्य सत्ताके कारण उत्पन्न होनेवाले भ्रष्टाचारके संसर्ग-दोषसे दूषित हैं। पापका डर मिट गया है, ईश्वर परम शुद्ध एवं पवित्र सत्यके रूपमें अनुभूत होनेके बदले वह एक निःसार संकेत और रिवाजमात्र हो गया है। तब हम क्या करें ? क्या हम निराशामें डूबकर भयंकर संकटकी प्रतीक्षा करते हुए किसी प्रकार दिन काटते रहें ? यदि ऐसा नहीं करना चाहते, तो परिस्थिति सुधारनेके लिए हम कौन-सी राह अपनायें ?

नैतिक मूल्योंके लिए आदर तथा गलत काम करनेका डर पुनः प्रस्थापित करनेके लिए सिवा इसके कि हम धर्मकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट कर उसे पुनः प्रवर्तित करें, दूसरा कोई मार्ग नहीं। धर्म ही वह चट्टान है, जिसपर उन्नति और समृद्धिका निर्माण हो सकता है, और किसीपर नहीं।

सभी योजनाएँ और प्रकल्प असफल हो रहे हैं; क्योंकि उनमें काम करनेवालोंके पास चारित्र्यका अभाव है। धर्मके दो पहलू होते हैं: एक, ईश्वर तथा धर्मकी निर्विवाद वास्तवता तो दूसरा व्यावहारिक उपयुक्तता—यानी यह मानें कि कोई भी राजनीति धर्मके अभावमें राष्ट्रिय कल्याण, उन्नति या समृद्धि करनेमें सफल नहीं हो सकती। हमने देखा है कि धर्महीन राजनीति सब स्तरोंके लोगोंको केवल भ्रष्ट करती है। वह अबोध, भोले-भाले ग्रामीण जनसाधारणको छूकर उन्हें भी तीव्र वेगसे दूषित किये जा रही है।

अब हम इस राजनीतिमें कोई सुधार नहीं कर सकते। उसे बदल ही देना होगा। इस दुःखद परिस्थितिको आशामें पलटानेके लिए हमें कुछ समयके लिए धर्मको ही अपनी राजनीति बनाना होगा। जिस प्रकार निरंकुश राज्यके स्थानपर 'लोकतन्त्र' लाया गया, उसी प्रकार हमें 'राजनीतिके स्थानपर 'धर्म'को लाना होगा। जिस प्रकार पचास साल पहले हमने स्वराज्यके लिए काम किया, उसी प्रकार आज हमें धर्मके लिए काम करना होगा।

जब मैं धर्मकी बात करता हूँ, तो उससे मेरा मतलब इस धर्म या उस धर्मसे नहीं, बल्कि उस मूलभूत भय-भक्तिसे है, जो भारतमें प्रचलित सभी धर्मोंने सिखायी है। 'भय' यानी पापका डर और भक्ति यानी ईश्वरकी कृपामें निष्ठा। इन दो तत्त्वोंसे सब धर्म अपने अनुयायियोंके जीवनमें आध्यात्मिकता लाते हैं, मेरे कहनेका मतलब है, सब धर्मोंकी विधायक एकता, न कि वह अभावात्मक धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलेरिजम), जो हमारी राजनीतिकी एक अर्थहीन भाषा बन गयी है।

इसलिए मुझे यह कहनेमें बिल्कुल हिचकिचाहट नहीं कि जो सज्जन और संस्थाएँ स्त्री-पुरुषोंके हृदयमें पापका भय तथा उस परमोच्च सत्ताधीशके प्रति निष्ठाको पुनः संचारित करनेके एकमात्र प्रयासमें समर्पित है, वे विद्यमान परिस्थितिमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनीति चला रहे है। राजनीतिकी विध्वस्त बुनियादोंको वे फिरसे स्थिर कर रहे हैं।

हाल ही में माँ आनन्दमयी अपने भक्तोंके साथ मद्रास आयी थीं। उनके दर्शनके लिए आये लोगोंपर वे कितना गहरा असर डालती थीं, वह देखते ही बनता था। अन्य भी ऐसी कई संस्थाएँ तथा पवित्र व्यक्ति हैं, जो इस प्रकारका पुनीत कार्य कर रहे हैं। उन्हे पैसेकी कोई कमी नहीं। भारतकी जनताको जन्मजात सहज-वृत्ति प्रायः विना बुलाये ही उनकी मददमें पहुँचती है।

तो अब हम अच्छी तरह मान रखें कि धर्म यानी पापका डर और ईश्वरपर निष्ठा ही इस समय हमारी राजनीति है। राजनैतिक बिलगावोंके विषयमें अभी हम त्रस्त न हों, उन्हें अकेला ही छोड़ दिया जाय। वे स्वयं भस्म हो जायँगे, यदि हम उनमें नया जलावन नहीं डालेंगे।

> जो लोग आजकलकी राजनीतिमें आकण्ठ डूबे हुए हैं और जो उसके भ्रष्टाचारसे लाभ उठा रहे हैं, संभव है, उनको मेरा यह सुझाव विचित्र लगे। उन्हें आश्चर्य लग सकता है कि मुझ जैसा मँजा राजनीतिज्ञ इस प्रकारका सुझाव रख रहा है! पचास वर्ष पहले जब असहयोगका सुझाव आया, तो जो लोग विदेशी राज्यसे लाभ उठाते थे और उसके पूरे आदी बन गये थे, वे उसे एक अजीव और वेवकूफ विचार समझते थे। लेकिन वही उस समस्याका एकमात्र हल सिद्ध हुआ।

नैतिक स्व-शासनके सम्पूर्ण अभावसे अंकित हमारे तथाकथित एक शासन (स्वराज्य) के असाध्य भ्रष्टाचारोंसे बाहर आनेके लिए मेरा यह सुझाव ही एकमात्र अहिंसक मार्ग है। जब किसी नगरमें महामारी फैल जाती है, तब हम उस नगरको छोड़ जाते हैं। इसी प्रकार इस समय हमें राजनीति छोड़ देनी ही चाहिए। जब वह पूर्ण सलामत बने, तभी हम उसकी ओर लौटें।

●

हिन्दू-धर्म है क्या ?

श्री विद्यानिवास मिश्र

★

हिन्दू-धर्म यह नाम हो हमारा अपना दिया हुआ नहीं है। मध्ययुगके सन्त कवियोंमेंसे अधिकांशने 'हिन्दू' विशेषण लगानेकी आवश्यकता नहीं समझी।

धर्मके दो आयाम

प्राचीन कालमें भी धर्मके दो आयाम थे : पहला सामान्य अर्थात् निर्विशेष धर्म, दिक्कालातीत धर्म, वर्णाश्रमातीत धर्म या दूसरे शब्दोंमें सनातन अनवच्छिन्न धर्म ! वह धर्म जो प्रजाओंको धारण करता है : **धर्मो धारयते प्रजाः**। वह धर्म, जो 'ऋत'को प्रवर्तित करता और 'सत्य'से विचलित नहीं होता। वह धर्म, जो मानव मात्रका है, किसी एक जाति, किसी एक भौगोलिक सीमा या ऐतिहासिक दायरेसे बँधे लोकका नहीं। वह प्राणिमात्रसे, चर-अचर जगत्से मनुष्यको जोड़नेवाला धर्म है। दूसरा, देश-कालसे परिसीमित विशेष धर्म है। इसीका भारतीय सामाजिक रूप वर्णाश्रम है। इसीका व्यक्तिगत स्तरपर रूपान्तर विभिन्न उपासनाओंमें होता है। इसीका नैतिक स्तरपर एक रूप पाप-पुण्य-विवेक भी है। इसीका रागात्मक स्तरपर रूपान्तर काव्य एवं कलाओंमें होता है। इसीका क्षेत्रीय प्रतिभाओंके प्रस्फुटनके स्तरपर लोककलाओं एवं लौकिक अनुष्ठानोंके रूपमें रूपान्तर होता है। किन्तु इन सभी रूपान्तरोंका मूल स्रोत है सामान्य धर्म। अपने धर्मका आचरण सबके धर्मोंसे जुड़नेकी एक प्रक्रिया है, अपने आपमें चरम गन्तव्य नहीं। जिन लोगोंने दूसरे प्रकारका धर्म पहले प्रकारके धर्मसे अलग करके देखा, उन्हें इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस अनेकरूपी आचरणको कोई एक संज्ञा दी जाये तो उन्होंने 'हिन्दू-धर्म'के नामसे इस समुदायको अभिहित किया।

कालान्तरमें जब यह समुदाय सांस्कृतिक रूपसे आक्रान्त हुआ, तब वह अपनी अस्मिता कायम रखनेके लिए दूसरोंकी दी हुई अपनी इस संज्ञाको कवचके रूपमें धारण करने लगा और अपनी व्यापक मूलदृष्टिसे कटकर एकजातीय बोधके साथ अपना तादात्म्य जोड़ने लगा। यह प्रक्रिया मध्ययुगमें उतना जोर नहीं पकड़ सकी, बावजूद इसके कि तलवारके बलपर धर्म-परिवर्तन कराये गये और विशेष प्रकारका परधर्म-मतावलम्बी मानकर 'जजिया' लगाया गया।

भक्ति आन्दोलनकी व्यापक मूलदृष्टि

इसका मुख्य कारण यह था कि भक्ति-आन्दोलनकी मूलदृष्टि बड़ी व्यापक थी। भगवान्का होनेका अर्थ ही था, समस्त प्राणियोंका होना, क्योंकि भगवान्के अस्तित्वका अनुभव

अपनेमें तबतक अधूरा है, जबतक आस-पास उस अनुभवसे गमक न उठे। जिस अस्तित्वसे पुण्य न गमके, वह अस्तित्व ही कैसा? इसीलिए भक्तिकी सघन शीतल छायामें छँहाने मुसलमान आये—इस्लाम छोड़कर नहीं, इस्लाम ओढ़े हुए आये। यद्यपि वे इस्लाममें ही दफनाये गये, तथापि जीते रहे भक्तिमय जीवन, कुर्बान होते रहे जड़ प्रतिमापर नहीं, पर नित्य घटित हो रही लीलाके माधुर्यपर। अब्दुर्रहीम खानखानाने नन्दनन्दनको पुकारा—'छिपना चाहते हो तो इस मेरे अन्तरालके गहन अन्धकारमें आकर छिप जाओ तुम्हें कोई भी ढूँढ़ नहीं पायेगा'—

मानसे मम घनान्धतमसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे?

भक्तिने घनेसे घने अन्धकारके साथ भगवान्‌का तादात्म्य स्थापित किया, जिससे भगवान्‌से अनालोकित कोई भी कोना-अँतरा न रह जाय।

समग्र-दृष्टि धूमिल हुई

भक्तिकी पूरी भूमिका विधिरूप थी। निषेधरूपमें उसे जिन किन्हीं लोगोंने देखा, उन्होंने साम्प्रदायिक संकीर्णताको ही जन्म दिया। उससे मठ तो बने, मठोंकी सम्पत्ति तो बनी, पर सर्वभूतोंमें एक अव्ययभाव देखनेवाली, समस्त ठहरी हुई स्थितियोंमें एक होनेकी प्रक्रिया आरम्भ करनेवाली, समस्त अलग-अलग इकाइयोंमें एक परस्पर सापेक्ष संरचना देखनेवाली समग्र-दृष्टि धूमिल होती रही। तुलसीदासने जब कहा:

सो सब धरम करम जरि जाऊ।
जेहि न रामपद पंकज भाऊ॥

या कृष्ण-भक्तने कहा:

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ
जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

तो उसका तात्पर्य यह नहीं था रामभक्तिसे विलग कोई धर्म है या कृष्णरूपकी माधुरीसे विलग कोई माधुरी है। उसका अर्थ यही है कि रामभक्ति या कृष्णरूप-माधुरीकी वास्तविक प्राप्ति ही तब माननी चाहिए, जब समस्त धर्मों, समस्त सौन्दर्यों, समस्त सुखों और समस्त दुःखोंका तादात्म्य भगवद्भक्ति एवं भगवत्-चिन्तनमें हो जाय। उसके पहले भक्ति छूछी रहती है, क्योंकि कुछ ऐसा अंश बना हुआ है, जो भगवद्भावनासे अभी आपूरित नहीं हुआ है। जहाँ समाज-सेवा मोक्षके साधनमें स्वीकृत थी, वहाँ वह भगवत्सेवाके रूपमें परिणत होकर मोक्षसे भी अधिक स्पृहणीय साध्य बन गयी।

जो जितना डूबा, वह उतना तिरा

भक्तिका आन्दोलन अपने भीतरी स्तरपर समाजका निषेध करनेवाला आन्दोलन नहीं था। वह समाजको बदलनेवाला भी आन्दोलन नहीं था। वह समाजको सराबोर करनेवाला अनन्त पारावारका प्रवाह था। उसमें जो जितना डूबा, वह उतना तिरा। इसीलिए धर्मान्तरके प्रयत्न संस्कृतिसे भीतरी विवर्तनके स्तरपर अपने आप विफल हुए। सारा धर्मान्तरण केवल वेश-

भूषा और खान-पान बदलनेतक ही कृतकार्य हो सका। वह मन नहीं बदल सका, उल्टे उसने बहुत बड़े प्रतिरोधकी शक्ति निर्मित की और इस शक्तिने मुगल-साम्राज्यकी नींव जड़से हिला दी। यही नहीं, इस्लामका भी एक भावान्तर करनेमें यह आन्दोलन सफल हुआ। इसने इस्लामी सन्तोंको ऊँची प्रतिष्ठा दिखायी।

संकीर्णताकी शुरुआत

हिन्दू-धर्मकी संकीर्णताकी शुरुआत अंग्रेजोंके आनेके बाद हुई। अंग्रेजोंने ऊपरी तौरपर धार्मिक सहिष्णुता दिखलायी, भीतर-भीतर मसीही धर्म-प्रचारको सरकारी संरक्षण दिया। ऊपरसे उन्होंने प्राचीन साहित्य और धर्मके अध्ययनके लिए अपने आदमी लगाये। यह अलग बात है कि उनमें काकतालीय-न्यायसे कुछ सच्चे भी निकले। फिर भी भीतर-भीतर हिन्दू-धर्मको एकदम कठघरेमें खड़ाकर दिया : "हिन्दू-धर्म निर्नैतिक है, हिन्दू-धर्म ढोंग-प्रधान है, हिन्दू-धर्म अन्ध-विश्वासी है, हिन्दू-धर्म बहुदेववादी है, प्रकृतिदेववादी है।" यही नहीं, अपनी शिक्षामें रंगकर क्षमाप्रार्थी हिन्दू-नेता उसने पैदा किये, जो अपनी सफाईकी विदेशी युक्तियोंकी तलाशमें लगे। उन्होंने हिन्दू-धर्मकी सम्पूर्णता खण्ड-खण्ड कर उसके एक खण्डके ही प्रामाण्यपर बल देना शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दूने 'हिन्दू' नाम तो बड़े शौकसे धारण किया—बिना जाने-समझे कि यह नाम हिन्दूकी इयत्ता स्थापित करनेके लिए उतना नहीं, जितना उसका मुसलमान और ईसाईसे अकारण अलगाव करनेके लिए कारगर है। किन्तु उसने जब अपनेको मसीही और मुसलमानके समकक्ष मतावलम्बीके रूपमें खड़ा किया, तब उसे लगा कि अपनेमें उसे काट-छाँट करनी होगी। कुछ नयी प्रकारकी निष्ठाओंपर टेक लगानी होगी और अपने ही हिस्सेको अपनेसे जुदा करना होगा।

प्रगतिके पीछे अगति

इस नव-साक्षर हिन्दूने जो ककहरा पढ़ा, उसमें हमारे श्रीराम और श्रीकृष्ण एक ओर ईसामसीह और मुहम्मदकी तरह इतिहास-पुरुष बने, तो दूसरी ओर उनकी लीलाएँ ऐतिहासिक रूपमें स्थापित न होनेके कारण काल्पनिक और अवास्तविक रूपमें देखी जाने लगीं। इसलिए वह अरूप, निराकार और अनन्त एककी तलाश करता-करता एक विचित्र प्रकारके द्वैतका शिकार हो गया और उसे अपनेमें ही दो शक्लें दिखायी देने लगीं : एक, घिनौनी और दूसरी, सभ्य। वह प्रगतिके पीछे-पीछे दौड़ता-दौड़ता अगतिका शिकार हो गया। वह विश्वासकी स्थापनाकी आकुलतामें सन्देहसे घिर गया। उसके लिए सामान्य-हिन्दू जीवनके लीलापुरुष अवास्तविक और अप्रामाणिक हो गये, और जिस प्रामाणिक पुरुषकी स्थापना उसने करनी चाही, उसकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमें विवाद खड़े हो गये। उसने बौद्धिकता और तार्किताका नारा लगाया और स्वयं असंगतियों एवं जड़ताओंका शिकार बन गया।

परिणाम दो रूपोंमें

इसका परिणाम आज दो रूपोंमें देखनेको मिल रहा है : औसत बुद्धिवादी सरेबाजार अपनेको 'हिन्दू' कहनेमें अत्यन्त सकुचाता है। और जो अपनेको हिन्दू उद्घोषित करता है, वह

ऐसी निष्ठाओं एवं ऐसे मूल्योंकी बात करता है, जो कैसे भी उपयोगी या तात्कालिक महत्त्वके क्यों न हों, हिन्दू नहीं हैं। और चाहे जो कुछ हो, जो महज जनगणनामें 'हिन्दू' लिखा जाता है, वह 'हिन्दू' शब्दको अपने लिए कोई महत्त्व नहीं देता। वह महत्त्व देता है, हिन्दूकी अभिव्यंजना जिनमें होती है, ऐसे आकारों, ऐसे अनुष्ठानों, ऐसी अनुभावनाओं और ऐसी संकल्पनाओंको। हिन्दू-जीवनबोधकी निरन्तरता साकार होती है गंगामें और अबुद्धिवादी हिन्दू उसी गंगामें मरकर आत्मसात् होना चाहता है, ताकि निरन्तरताका बोध अखण्डित बना रहे। वह निर्भय सत्यकी साकारता देखता है श्रीरामकी लीलामें, पर उस लीलाके प्रेक्षकके रूपमें नहीं, अभिनेताके रूपमें, साझीदारके रूपमें। रामके पक्षधरके रूपमें अपनेको स्थापित करके श्रीरामकी नित्य लीलाको जो लेता है, वह निबिड़ अन्धकारको चीरनेवाले प्रकाशके रूपमें देखता है श्रीकृष्णको और हर जन्माष्टमीको वह अन्धकारको चीरनेकी प्रक्रिया अनुवर्तित करता है। वह श्मशानवासी, विषपायी मृत्युञ्जय शिवमें समस्त ऐश्वर्य, सम्पूर्ण उल्लास और निखिल विद्याओंका अधिष्ठान देखता है और वसन्तमें शिवरात्रिका जागरण गीतोंमें करके अपनेको शिव-की सन्निधिसे स्थापित कर लेता है। वह गौरी-गणेशमें सौभाग्य, मांगल्य और पारिवारिक स्नेहका उत्कर्ष पाकर मातृवत्सलतामें अपनेको अभिषिक्त कर लेता है। उसके लिए 'हिन्दू' कहा जाना कुछ खास महत्त्व नहीं रखता। भीतरके स्पन्दनका छन्द जिन परिवेशों, आचारों और व्यव-हारोंसे मिलता है, जिन भावाभिव्यक्तियोंसे मिलता है, जिन विचार-पीठिकाओंसे मिलता है, जिन साधनाओंसे मिलता है, उन सबके बीच रमना ही महत्त्व रखता है।

असली हिन्दू कौन ?

जो नहीं रम पाता, वही एक भयंकर दुरवस्थाको जन्म देता है। वह बात करता है, मार्क्सके आक्रोश और सार्त्रके न कुछके आतंककी। पर बच्चा बीमार होते ही हनुमानजीको चढ़ानेकी मनौती मानने लगता है। एक ओर हिन्दू-पुराणों और महाकाव्योंके कथानकोंको गप्प घोषित कर श्रीकृष्ण और श्रीराधाके ऐतिहासिक जीवनचरितकी आवश्यकतापर बल देता है, तो दूसरी ओर चमत्कारी महात्माओंके चरणोंमें अपनेको बिछाकर पदोन्नतिकी कामना करता रहता है, जो वेदान्तपर अंग्रेजीमें व्याख्यान सुन-सुनकर ऊँचे स्तरके आध्यात्मिक बोधकी बात करते हुए भी आचरणमें घोर असत्य, छल और कपटका ही प्रमाण देता है। तभी संशय होता है हिन्दू कौन ? हिन्दू-धर्मका जोश-खरोशके साथ उपदेश करनेवाला बाबा या पण्डित या मठाधीश या नया साहब या फिर एकदम गँवार निरक्षर आदमी, जिसका अध्यात्म उसकी रोटीसे अलग नहीं, जिसकी साधना उसके कामसे अलग नहीं, जिसकी भक्ति उसका निजी रागद्वेष समेटे हुए है ?

हिन्दू-धर्म मतप्रधान नहीं; आचारप्रधान है। हिन्दू-जीवन श्रद्धाप्रधान है। हिन्दू-धर्म संस्था नहीं, संस्थाओंकी संस्था है। 'हिन्दू-धर्म व्यक्ति-केन्द्रित है, इसका सामाजिक पक्ष बहुत दुर्बल है, हिन्दू-धर्म एक धर्म नहीं, नाना धर्मोंका समन्वय है' आदि-आदि बातें जाने कितनी बार दुहरायी जा चुकी है। इन तमाम बातोंका एक ही परिणाम सामने है,

पढ़ा-लिखा आदमी हिन्दू-धर्मके इस अव्याख्येय रूपसे इतना अभिभूत है कि या तो वह इसे जादूके रूपमें देखता है और कृष्ण-चैतन्य-आन्दोलनको हिन्दू-धर्मके चमत्कारके रूपमें देखता हुआ उच्छ्वसित हो उठता है, गाँजेके दमपर भौतिकताको राखमें मिलानेवाले हिप्पियोंको देखकर गर्वसे स्फूर्त हो उठता है या फिर शुद्धिवादितासे आक्रान्त होकर हिन्दू-धर्मकी जीवन्त समग्रतामें ही बहुत-सी चीजोंको काटकर अलग रखनेकी बात करता है, उसके बिना उसको हिन्दुत्व बड़ा वैसा लगता है। या फिर सिद्धकोटिका व्यक्ति हुआ तो वह हिन्दू-धर्मसे एकदम उदासीन हो जाता है। उसे फिर केवल दोष ही दोष नजर आते हैं और वह हर दुःख-दैन्यका कारण हिन्दू-धर्म मानता है। चाहे जिस रूपमें वह देखे, उसके लिए हिन्दू-धर्म या तो रक्षा-कवच बनकर रह जाता है या उसके समस्त दोषोंका आवरण !

हिन्दुत्व और विश्व-साझेदारी

ऐसेमें हिन्दू-धर्म और आजके विश्वके बीच सम्बन्ध देखनेकी बात बड़ी बेमानी लगती है, जब देशकाल-विच्छिन्न हिन्दू-धर्म ही स्पष्ट न हो। कमसे कम शिक्षित व्यक्तिके सामने उसका कोई परिच्छिन्न रूप न हो, तब देशकालातीत हिन्दू धर्मकी विश्व-साझेदारीकी कल्पना करना बड़ा दम्भ लगता है। तो भी दक्षिणी अमेरिकातक जो एक किसी एक संज्ञासे अपरि-भाषित होनेवाली बेचैनी मनुष्यको उन्मथित कर रही है, और जब यास्पर्स जैसा गम्भीर विचारक यह माँग कर रहा हो कि "आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य दूसरे मनुष्योंके साथ जुड़कर अपनेको एक ऐतिहासिक इकाईके रूपमें विश्वमें विलीन कर दे, ताकि विश्वव्यापी बे-घरपनेमें अपने लिए नया घर पा ले···और यह बौद्धिक अमूर्तन मात्रसे सम्भव नहीं, यह सम्भव है समग्र वास्तविकतासे एक साथ सम्पूर्ण परिश्लेषसे।" जब अतिऔद्योगीकरणके विमानवीकरणका शिकार हो मनुष्य भस्मासुरी अभिशापमें जल रहा हो, तब हिन्दू जागरूक हो न हो, हिन्दू-धर्मके विश्व साझीदारीके शाश्वत मूल्य अपने आप जाग उठते हैं। शायद यह भी हो कि 'हिन्दू' नाम जैसे पराया है, वैसे ही हिन्दुत्वके मूल्योंके लिए आप्लवन भी बाहरसे आनेपर ही यहाँकी रेतीली धरती भीगे तो भीगे।

हिन्दू-धर्म। जीवनसे तादात्म्य

पर जिन्हें देश-कालकी सीमाओंको लाँघनेवाले अपार ज्वारका छींटा भी एक बार मिल चुका है, उन्हें एक बड़ी बेकली सताती है—हिन्दू-धर्मके बारेमें सामान्य व्यक्ति कैसे सही जानकारी प्राप्त करे, कैसे वह इस हिन्दू-धर्मके 'दिक्काल-आबद्ध' (इन्सुलर) और 'दिक्कालातीत मुक्त' (नानइन्सुलर) रूपके बीच सामंजस्य स्थापित करे, कैसे वह दैनन्दिन जीवनके क्रममें बिना टंट-घंटके एक सहज धर्मकी लयबद्धता प्राप्त करे, कैसे वह अपनी दुर्बलताओंके बीच सर्वशक्तिमान्‌को आहूत करें, कैसे वह बहुप्रचारित असत्योंका बिना आहत हुए साहस-पूर्वक खण्डन कर सके। संक्षेपमें कैसे वह हिन्दू-धर्मको बिना साइनबोर्ड लगाये जीवनमें जी सके ? इन प्रश्नोंका समाधान पानेका दावा करना एक नया दम्भ होगा, यह टटोलनेकी कोशिश की जा सकती है। यह लेख उसीकी एक भूमिका है।

आजका विश्व संचार-साधनाके द्वारा इतना जुड़कर भी खण्ड-खण्ड टूट रहा है, इसका केन्द्र खिसक रहा है, इसका वृत्त टूट रहा है, पर आदमी आदमियत खोनेके भयसे फिरसे अपनेसे जुड़नेके लिए बेचैन है। उस समय दुरन्त अकेलेपनकी हताशामें हिन्दू-धर्म एक आश्वासन देता है, पर उस आश्वासनको आकार कौन दे? जो स्वयं उस आश्वासनको प्रवंचना मानता है, वह दे सकेगा? या वह दे सकेगा जो इस आश्वासनको शुद्ध अपनी आयका, अपनी निजी प्रतिष्ठाका साधन बनाये हुए है? या संशयग्रस्त बीचका आदमी जो डरके मारे, घरके डरके मारे धार्मिक बने रहनेमें अपना त्राण देखता है? या वह आदमी जो इस आश्वासनसे स्वयं तो आश्वस्त है, लम्बी डगरपर चलनेका उसे अभ्यास जो है, पर दूसरोंतक इस आश्वासनको पहुँचानेकी भाषा उसके पास नहीं, उसके पास केवल एक नीरव अभिव्यक्ति है? ये प्रश्न जितने सार्थक आज हैं, उतने कभी न रहे हो। ऐसी बात नहीं, लेकिन जितनी व्यापकता-सार्थकता आज है, उतनी कभी नहीं थी, यह नितान्त सत्य है।

स्पन्दित जीवन-निष्ठा

मैं अपनेको एक ऐसा गँवार हिन्दू मानकर जिसके पास कुछ टूटी-फूटी भाषा है, इन प्रश्नोंकी चुनौती स्वीकार करना चाहता हूँ। भय मुझे भी कम नहीं। क्योंकि मैं भी तो शिक्षित मनुष्य हूँ, पर एक बहुत ही झीनी-सी किरण जुगजुगाती है कि शायद यह चुनौती सुन पाना ही कुछ अपनेमें विश्वास भरे और मैं यह प्रतिपादित कर सकूँ कि हिन्दू-धर्म समाजशास्त्रियों द्वारा शव-परीक्षाके लिए प्रस्तुत काय-विज्ञानके अभ्यासकी सामग्री नहीं, यह एक स्पन्दित जीवन-निष्ठा है, जो इसका हो जाता है, वह कहता नहीं यह जीवन-निष्ठा मेरी है और जब तक वह इस निष्ठाका बिराना ही बना रहता है। प्रस्तुत लेख प्रश्न उभारनेकी एक भूमिकामात्र है।

मैं तो ईमानदारीसे यह मानता हूँ कि हिन्दू-धर्मका कोई सन्देश यदि हो सकता है तो यही कि व्यक्तिका धर्म स्वनुष्ठित होकर सर्वधर्मका बिन्दु बने। इससे अधिक सन्देशक कामना हिन्दू-धर्म नहीं करता, इसीलिए वह सर्वजनीन है।

●

गोपाष्टमी

भगवान् श्रीकृष्ण बाल्यकालसे ही गोपालनमें लगे थे, इसलिए गोपाल कहलाये। उन्होंने लगातार सात दिनोंतक दैव-प्रकोपसे गोवर्धनकी तलहटीमें गौओं और गोपोंकी रक्षा की। जब वह संकट टल गया तो आठवें दिन गोपाष्टमीका उत्सव मनाया गया। यह पवित्र पर्व प्रति-वर्ष हमें नित्य-प्रति गोपालनका सन्देश देनेके लिए आता है।

●

हिमालयसे कन्या-कुमारीतक

दीपमालिकाका उत्सव

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

★

दीपावलीका पर्व वास्तवमें ऋतुपरिवर्तका पर्व माना जाता था। इसीलिए इस अवसरपर दीपसज्जा आदि समारोह करके वर्षा-ऋतुका अन्त और शरद् ऋतुका स्वागत करनेकी रीति थी। कालान्तरमें यह भारतीय तिथियोंसे नव वर्ष-दिवसके रूपमें मनाया जाने लगा। व्यापारी समुदाय अधिकांशतः आजके ही दिन बहीखातोंका मुहूर्त करता है। किसी नये कार्यके लिए भी यही दिन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दीपावलीका पवित्र पर्व इतना महत्त्व-पूर्ण हो गया कि हिमालयके पर्वतीय प्रदेशोंसे लेकर दक्षिण भारतके अन्तिम छोर कन्याकुमारी-तक सारा भारत जगमगा उठता है। प्रत्येक प्राणी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकताका प्रतीक बनकर अपने लिए शुभ-कामनाएँ करता है।

हरियाणामें

हरियाणा (पंजाबके पूर्वी भाग)-में दीपावलीसे पूर्व घरको झाड़-पोंछ और चूना करा लेना अनिवार्य-सा है। धनतेरसको नये बर्तन मोल लेना, नये वस्त्र पहनना और विभिन्न प्रकारकी मिठाइयाँ बनाना वहाँ अपना कर्तव्य समझते हैं। उस दिन घरकी महिलाएँ घरके किसी विशेष स्थानमें भीतपर पूजाके निमित्त लक्ष्मी-गणेशका चित्र अंकित करके पूजन करती हैं। मिट्टीकी छोटी-छोटी कुल्हियोंमें धानकी भुनी हुई खीलें, चीनी (शक्कर)-के बने अनेक प्रकारके खिलौने और दो-तीन खण्डवाली कोठीका प्रसाद विशेष रूपसे लगाया जाता है। व्यापारी आज ही बही-खातेका मुहूर्त करते हैं। अगले दिन अन्नकूटका महान् पर्व मनाया जाता है। स्त्रियाँ गोमय (गोबर)-से विशाल गोवर्धन पर्वतका मूर्त रूप पृथिवीपर बनाती हैं। इसका भोग लगानेके लिए घर-घर और सार्वजनिक मन्दिरोंमें अनेक प्रकारके व्यंजन, जिनमें मीठा-फीका बाजरा, गवारकी फलियाँ, मूँग, कढ़ी और चावलके साथ पूरी या अनेक मिठाइयाँ बनती हैं। सायंकाल पृथ्वीपर बनाये हुए गोवर्धनका बछड़ेसे मथन करा देते हैं (बछड़ेके खुरोंसे नष्ट करा देते हैं)। फिर बछड़े और ग्वालेका पूजन करके बिदाई होती है जैसे काशी और मथुराका अन्नकूट प्रसिद्ध है, वैसे ही हरियाणा-प्रदेशमें भिवानीके मन्दिरमें, विशेषतः खासी-बाबाका अन्नकूट प्रसिद्ध है। वहाँका प्रसाद लेने दूर-दूरसे ग्रामीण तो आते ही हैं, साथ ही यह प्रसाद कलकत्ता, बम्बई आदि दूरस्थ नगरोंमें भी जाता है। अगले दिन भाईदूजका पवित्र पर्व आता है, जिसमें बहनें अपने हाथसे भोजन बनाकर भाइयोंको खिलाती हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करनेसे बहन-भाई यमके पाशसे बच जाते हैं।

पंजाबमें

पंजाबमें दीपावलीके दिन रामचन्द्रजीका राज्याभिषेक होनेके उपलक्ष्यमें बड़ा समारोह मनाया जाता है। उस दिन अमृतसरकी सजावट बम्बई और मैसूरसे टक्कर लेती है। लक्ष्मीपूजन और नये खाते तथा व्यापारका नया वर्षारम्भ इसी दिनसे होता है। प्रत्येक घरमें लक्ष्मीजीकी प्रतिमाके सम्मुख लोग अपना धन, आभूषण और चाँदी-सोनेकी मुद्राएँ रखकर उनकी पूजा करते हैं। उनका विश्वास है कि यदि लक्ष्मीजीकी कृपा हुई तो अगले वर्ष यह धन अनन्त हो जायगा। दीपावलकी रातको जागरण और रातमें बिल्लीका आगमन शुभ समझा जाता है। आजकी रातको लोग घरका द्वार खुला और प्रकाशकी बहुलता रखते हैं। वे यह समझते हैं कि रातमें लक्ष्मीका शुभागमन होगा।

राजस्थानमें

राजस्थानमें दीपावलीके दिन बिल्लीका बड़ा आदर-सत्कार होता है। उसे लोग लक्ष्मीका स्वरूप समझते हैं और पकवान परोसकर खिलाते हैं। यदि उस दिन घरका सारा भोजन बिल्ली चटकर जाय तो लोग अपना अहोभाग्य समझते हैं। यहाँ भी लक्ष्मीपूजनमें चाँदीकी मुद्राएँ और आभूषण पूजनेका विधान है। नया खाता और व्यापारी वर्गका कार्य भी आजसे प्रारम्भ होता है। अगले दिन सगे-सम्बन्धी और इष्ट-मित्रोंके घरोंमें अनेक प्रकारके पकवानका आदान-प्रदान होता है।

बंगालमें

कालिका-पुराणकी कथाके अनुसार बंगालमें विश्वास किया जाया है कि राक्षसोंका दमन करके प्रचण्ड आवेगसे पूर्ण विकराल महाकाली हिंसक और संहारक प्रेरणाओंके कारण इतनी मदोन्मत्त हो उठी थीं कि प्राणिमात्रके संहारमें प्रवृत्त हो गयीं। सम्पूर्ण विश्व त्राहि-त्राहि करने लगा। भगवान् शिवने कालीको शान्त करनेके लिए अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी। वे कालीके मार्गमें आकर खड़े हो गये। क्रोधोन्मत्त काली तब भगवान् शिवके वक्षःस्थलपर चढ़ गयीं, किन्तु शंकरके तपःपूत शरीरका स्पर्श पाते ही उनकी क्रोधाग्नि शान्त हो गयी और वे स्वयं ही शिवकी शरण आ गयीं। महाकालीके इस संहारक रूपसे मुक्ति पाकर सम्पूर्ण जगत् हर्षविभोर हो उठा। इसी प्रसन्नताके उपलक्ष्यमें घर-घरमें स्वच्छतम सजावट और दीप प्रज्वलित किये जाते हैं। दीवालीका दिन तो बंगाली 'महानिशा' मानते है और रातमें तान्त्रिक लोग मन्त्र सिद्ध करते हैं तथा कालीस्तोत्र आदिका पाठ करते हुए रात्रि-जागरण करते हैं। उनकी धारणा है कि आजकी रात जो जागता हुआ उलूक-वाहिनी लक्ष्मीकी प्रतीक्षा करता है, उसे धनकी कमी नहीं रहती।

मिथिलामें

बंगालियोंके समान मिथिला-निवासी भी शक्तिके उपासक हैं। यहाँ भी काली-पूजन बड़े समारोहके साथ किया जाता है। कालीकी प्रतिमासे लेकर ड्योढ़ीतक आटेका एक चौक

पूरते हुए एक यन्त्र बनाते हैं और लकड़ीके एक पात्रमें धान और दूर्वा रखकर उसे मस्तकपर धारण करके तीनवार मूर्तिके पास जाते और फिर लौटकर ड्योढ़ीतक आते हैं। रात बीत जानेपर सामूहिक रूपसे लोग हाथमें लूक लेकर गाँवका चक्कर लगाते हैं। भोर होनेसे पूर्व पुनः लक्ष्मी-पूजन होता है। दीपावलीके दिन यहाँ नारियल, पान और ताल मखानेका भोजन अनिवार्य है।

महाराष्ट्रमें

महाराष्ट्रमें दीपावली प्रायः यमपूजाके रूपमें मनायी जाती है। भारतीय परम्परामें यमकी भावनाका विकास विशेष प्रकारसे हुआ है। वैदिक-साहित्यमें ये 'जीवनके परम सत्य'के रूपमें वर्णित हैं। उपनिषत्-कालमें यमने एक व्यक्तित्व धारण कर लिया था। कठोपनिषद्को यम-नचिकेता-कथाके अनुसार यमने ही नचिकेताको ब्रह्मानुभूति करायी थी। पौराणिक साहित्यमें ये अत्यन्त कुशल शासकके रूपमें चित्रित हुये हैं। गीतामें श्रीकृष्णने अपनेको यमका प्रतीक माना है। पौराणिक कथाके अनुसार कार्तिक शुक्ल द्वितीयाके दिन यमराज अपनो बहिन यमुनासे मिलने गये थे, इसी कारण इसे 'यम-द्वितोया' कहते हैं। महाराष्ट्रमें यह 'भाऊ-बीज' (भ्रातृ-द्वितीया) के रूपमें बड़े समारोहके साथ मनाया जाता है। अन्यत्र यही भैयादूजके दिनके रूपमें मनाया जाता है।

दक्षिण भारत (हैदराबाद)

हैदरावाद (दक्षिण) में दोपावलीके दिन कृष्ण (विष्णु) और राजा बलिकी कथा सुननेकी परम्परा है। इस दिन यहाँ भैंसोंका युद्ध कराया जाता है। जिनके पास भैंसे होते हैं, वे इस दिन उन्हें लड़ानेके लिए महीनों पहलेसे तैयारियाँ रखते हैं। वे भैंसोंको खिला-पिलाकार बलिष्ठ और लड़ाकू बनाते हैं और दीपावलीके दिन पहले उसपर सवार होकर अपना खेल दिखाते हैं। उसके पश्चात् भैंसेको अत्यधिक मदिरा पिलाकर लड़नेके लिए छोड़ देते हैं। इस युद्धको देखनेके लिए जनताकी अपार भीड़ उमड़ पड़ती है। ग्रामीण किसान भी दूर-दूरसे अपने भैंसे ले आते हैं। समस्त बाजार आजके दिन नाना प्रकारके खिलौनों और मिठाइयोंसे सजे होते हैं। व्यापारियोंका नव-वर्षारम्भ भी इसी दिनसे होता है।

आन्ध्र

आन्ध्र-प्रान्तमें दीपावलीके दिन सजावटको ही विशेष महत्त्व दिया जाता है। लोग अपने घरके बाहर मचान बनाकर उसे दीपोंसे अलंकृत करते हैं। इसके पश्चात् घरकी महिलाएँ उस मचानपर बैठकर लक्ष्मीके स्वागतमें गीत गाती हुई बाजा-बजा बजाकर नृत्य करती हैं। नरक-चतुर्दशीके दिन यहाँ तिल-तैल-स्नानकी विशेष प्रकारकी प्रथा है। इस दिन गाँवोंमें विशेष प्रकारसे लकड़ीके गट्ठर बनाकर उसे जला देते हैं और फिर बड़े वेगसे चारों ओर दौड़ते हैं जिसे 'हीड़ो' कहते हैं। यह 'हीड़ो' हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेशमें भी जलायी जाती है।

मद्रास

मद्रासमें दीपावलीको विशेष रूपसे बलिपूजाका स्मारक माना जाता है। हरिवंश-पुराणके अनुसार जब राजा बलिने देवताओंको भी जीत लिया, तब इन्द्र आदि देवोंने तप करके भगवान् विष्णुसे राजा बलिको पराजित करनेकी याचना की। विष्णुने देवताओंकी प्रार्थना स्वीकार करके वामन-अवतार धारण किया और अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले राजा बलिके पास जाकर अपने बुद्धि-बलसे वृद्ध-मण्डली और ऋषियोंको निरुत्तर कर दिया। वामनके बुद्धि-कौशलसे प्रसन्न होकर राजा बलिने पूछा : 'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?' अवसरका लाभ उठाकर वामनरूपी विष्णुने तीन पग पृथ्वी माँग ली। बलिने शुक्राचार्यके रोकनेपर भी तीन पग पृथ्वीका संकल्प ले लिया। वामनने संकल्प-जल हाथमें लेकर अपना विराट् रूप धारण करके संम्पूर्ण विश्वको अपने तीन पगोंमें नापकर बलिको पाताल-लोकका राजा नियुक्त कर दिया और वरदान दिया कि वर्षमें एकबार राजा बलि अपने साम्राज्य और वैभवका दर्शन कर सकते हैं। वहाँ दीपमालिकाका त्यौहार इसी आशयसे मनाया जाता है। यहाँके निवासी इस दिन बलिका आवाहन करते हुए अपनी दूकानें और भवन विद्युत्-प्रकाशसे आलोकित करते हैं। वैसे वहाँके निवासी अधिकांशतः श्रीकृष्णकी उस कथाके ही अनुसार दीपावली मनाते हैं कि नरक-चतुर्दशीके दिन श्रीकृष्णने नरकासुरका वध करके सोलह सहस्र रानियोंका उद्धार किया था। इस अवसरपर नये वस्त्र धारण करते हुए अनेक प्रकारके पकवान बनाकर सगे-सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रोंमें आदान-प्रदान करनेकी प्रथा है। मृत्तिकाके लक्ष्मी-गणेशके आगे अपने आभूषण और धन रखकर पूजा करना यहाँकी विशेष प्रथा है।

दीपावली-सम्बन्धी कथा

इस सम्बन्धमें कथाएँ तो अनेकानेक प्रचलित हैं, किन्तु एक पौराणिक कथा ग्रामीण किसानोंमें बहुत प्रचलित है। एक राजा तालाबपर स्नान कर रहे थे कि चील उनकी मोतीकी माला ले उड़ी। मार्गमें उसे एक मरा हुआ साँप दिखायी दिया। उसने झट मोतीकी माला वहीं छोड़ी और बदलेमें साँपको ले उड़ी। सौभाग्यवश वह माला किसी ब्राह्मणके हाथ लग गयी, जिसने लाकर माला राजाको दे दी। राजाने उसे पुरस्कार देना चाहा, किन्तु उसने केवल यही माँगा कि दीपावलीके दिन मेरे घरको छोड़कर अन्यत्र कहीं प्रकाश न किया जाय। राजाकी आज्ञासे ऐसा ही हुआ। रात्रिको लक्ष्मीने उस ब्राह्मण-परिवारके घर दीप-प्रकाश पाकर उसके घरमें जाकर उन्हें आशीर्वाद दिया। फलस्वरूप ब्राह्मणकी बहुत उन्नति हुई। उसी दिनसे दीपावलीके दिन महालक्ष्मीके आगमनकी प्रतीक्षामें असंख्य दीपकोंका प्रकाश और रात्रिका जागरण किया जाता है।

●

मर्मस्पर्शी बोध-कथा

आदर्श आढ़त : जहाँ सचाईका ही मोल है

श्री कृष्णगोपाल माथुर

★

(१)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

गो-ब्राह्मण एवं जगत्का हित करनेवाले गोविन्द श्रीकृष्णके अनन्य भक्त नन्दजीके यहाँ आढ़तका धन्धा होता था। वे सस्ती दर, सचाई, ईमानदारी और पाई-पाईके सही-सच्चे हिसाबके साथ ! बड़े दयालु, दानी और सबके सुख-दुःखोंमें सम्मिलित होनेवाले लोकप्रिय मानव थे। अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित श्री द्वारकाधीश्वरके मन्दिर, गोशाला, धर्मशाला एवं सदावर्तका सारा व्यय अपनी न्यायकी कमाईसे देकर उनकी व्यवस्था सुचारु रूपसे निरन्तर चलानेमें ही वे कृतकृत्यता मानते थे। भगवान्‌के प्रत्येक विधानपर उनका दृढ़ विश्वास था।

प्रतिवर्ष आषाढ़ी पूर्णिमाको भगवान्‌के मन्दिरमें अन्न-परीक्षा होती। सभी प्रकारके अन्नादिको एक-एक तोला तौलकर खादीके कोरे वस्त्रमें बाँध, मिट्टीके नये घड़ेमें रख शयन-आरतीके पश्चात् रात्रिको उसे भगवान्‌के श्रीचरण-कमलोंमें रख दिया जाता। दूसरे दिन प्रातःकाल उसी अन्नादिको दुबारा उसी तोले-काँटेसे तौलने पर भगवान्‌की अपार लीलासे उसमेंसे, पहले तौलकी अपेक्षा कोई कम हो जाता तो, कोई अधिक। कमी-वेशी जुआरके दानोंसे देखी जाती। उसीके अनुसार उस वर्षकी फसल उपजनेका अनुमान लगाकर कई व्यापारी अपना धंधा करते-कराते और उन्हें लाभ होता। नन्दजी भी इसपर पूरा-पूरा भरोसा रख धंधा करते। सचमुच उनके घरमें खूब धनागम होता।

एक दिन नन्दजी मन्दिरके पास सरोवरके तटपर बैठे ॐकारका जल्दी-जल्दी जप कर रहे थे। **जपात् सिद्धिः** के सिद्धान्तवादी एक साधक वहाँ आकर बोले। "नन्दजी, पीतलके भगोनेको टंकार देनेसे उसमेंसे ध्वनि निकलकर बहुत देरतक गूँजती रहती है। अन्तमें बहुत

धीमी होती-होती शनैः शनैः शान्त हो जाती है। इसी प्रकारकी ध्वनिसे ॐकारका जप करो।"
नन्दजीने कृतज्ञ होकर साधकके पाँवोंमें अपना मस्तक नँवा दिया।

नन्दजीका भवन मानो एक गोशाला था। बछड़े इधर-उधर फुदकते रहते। अधिकांश नागरिक पंचगव्य लेनेके निमित्त पहलेसे ही अपने-अपने खाली वर्तन उनके यहाँ रख जाते। सर्वरोगहारी गो-मूत्रकी सभीको, विशेष रूपसे वैद्योंकी अधिक माँग रहती। वे जानते कि कठिनाईसे भस्म होनेवाले पारदको भी गो-मूत्र भस्म बना देता है।[1] नन्दजीका परिवारवालोंको आदेश था कि किसीका कोई भी पात्र खाली न जाने पाये।

(२)

नन्दजीका ईमानदार, परिश्रमी, स्वामिभक्त कोषाध्यक्ष प्रदीप एकबार रोशनके ५००) रुपयेकी गड्डी तिजोरीमें रखना भूल गया। वह ऐसी गायब हुई कि बहुत खोजनेपर भी नहीं मिली। प्रदीपको तो अपनी ईमानदारी, सचाई कायम रखने और बदनामीके भयसे इतना शोक हुआ कि एकबार तो वह आत्महत्या करनेपर उतारू हो गया। उसके घरमें उस रकमकी पूर्ति करने लायक धन भी नहीं था। एक दिन एकान्तका सुयोग देख लज्जित होते हुए बड़े ही उदास मनसे प्रदीपने नन्दजीके पाँवोंको अश्रुजलसे भिगोते हुए सारा वृत्तान्त उनके सामने प्रकट कर दिया। बोला : "मैं यह जानकर किसीको अपनी लेखनी बही भी नहीं देता था। मेरी मान्यता है कि लेखनी, पुस्तक, शय्या किसीको देनेपर यदि भगवान् उन्हें वापस लाये तो वे बिगड़ी हुई ही आती हैं।'[2] रोज संध्याको घर जाते समय दीप-प्रकाश तिजोरीके चारों ओर देखता कि कहीं कोई रुपया पैसा बाहर तो नहीं रह गया है। किन्तु 'प्रारब्ध खोटी होते ही मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। सूर्य कमलोंको पोसता है, पर वही जलके न रहनेपर उन्हें जला डालता है।'[3] इसी प्रकार भगवान् मुझपर न जाने क्यों, कुपित हो गये। आप जानते हैं, मैं निर्धन हूँ। अतः मेरे वेतनमेंसे थोड़ा-थोड़ा रुपया काटकर पाँच सौकी पूर्ति करते रहें। मुझे नौकरीसे अलग न करें, यही आपसे विनीत प्रार्थना है।"

निःस्पृही नन्दजी तो सदा यही चाहते।

नहीं चाहना है विभो वित्तकी, हमें चाहिए चेतना चित्तकी। (गुप्तजी)

अतः उनके सरल हृदयमें इस अर्थ-हानिका तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ। वे विश्वासपात्र पुराने रोकड़िया प्रदीपको सचाईपर पूरा विश्वास करते हुए मृदु वाणीसे बोले : 'श्री भगवान्

१. गोमूत्रद्रोणपुष्पाभ्यां पाकाद्वा कान्तभाजने। (रसरत्नसमुच्चय १३.११०४)
२. लेखन, पोथी, सार, पर घर गयी न बावड़े।
जो लावै करतार, बिगड़ी आवे "नाथिया" ॥
(राजस्थान-मारवाड़में प्रचलित 'नाथिया'के सोरठे)
३. पकटत ही प्रारब्धके, सुखद दुखद ह्वै जात।
रवि पोषत, शोषत वही, जल जात हि जल जात ॥

तो सर्वहितकारी है। हमारी अज्ञानता है, जो अपनी भूलका दोष हम उन्हें देते हैं। आप चिन्तासे दुखी न हों। यह तो—

हानि लाभ जीवन-मरन जस-अपजस विधि हाथ। (मानस)

होता है। इन रुपयोंको बट्टाखाते नामें मांडकर जमा-खर्च बराबर कर दो और अपना काम नियमित, सदैव करते रहो।'

उस समय प्रदीपको दृष्टिमें नन्दजो महामानव दिखायी दे रहे थे। उसने सोचा—'कमल-दण्डकी नली जन्मसे ही कमलके साथ रहती है, तो भी कमल उस नलीकी ओर मुख न रख विमुख ही रहता है। इसी प्रकार गुणवानोंकी ओर लक्ष्मीवानोंकी रीति विमुख ही होती है।'[1] किन्तु नन्दजी इसके विपरीत साबित हो रहे हैं।

(३)

वह बैलोंको चाबुक मारता-पीटता गाड़ीको ऊवड़-खावड़ मार्गपर दौड़ाता पीछेकी ओर भयभीत हो देखता जाता था कि कहीं कोई पकड़नेवाला तो नहीं आ रहा है अथवा गाड़ीमेंसे कोई प्रियवस्तु तो नीचे नहीं गिर गयी है। इस तरह घबराया-हाँफता वह नगरमें आ पहुँचा अपने घर। यहाँ सबके आग्रह करनेपर भी भोजन न कर एकान्त, कक्षमें बैठ गया। मारसे बेचारे बैलोंके शरीरपर चोटें ज्योंकी त्यों उभर आया थीं। मार्गमें झरनेपर उन अनबोले निर्दोष पशुओंको जल भी नहीं पीने दिया था। अब उन्हें देख देखकर भारी दुःख हो रहा था उसे। आगे उसका चिन्तन चला : "अब कभी ऐसा अत्याचार नहीं करूँगा। हाँ, माँ मुझे कितना प्यार करते हुए सदाचारकी शिक्षा यों दिया करती है—पनिहारिनको सामने आती देख तेरे पिताजी नीची दृष्टि कर लिया करते थे। महात्मा गांधीने सच कहा है—'स्त्री ही बालकका चरित्र-गठन करती है। अतः वह राष्ट्रकी माता है। बहन गाया करती है—**भैया मोरे राखीके बन्धनको निबाहना**। भ्राताके विषयमें तुलसीदासजीने कहा—**मिलै न जगत सहोदर भ्राता**। और पूज्य पिताजी तो सर्वथा वन्दनोय हैं। विवाहके समय घरवालीको घरकी **सम्राज्ञी भव** कहकर लाया जाता है। हाय-हाय, इन सबका प्रेमपूर्ण आग्रह न मानकर मैंने भोजन नहीं किया। भला चोरको शान्ति कहाँ ?"

विचारोंके अन्तमें जब भूखने अधिक सताया, तब उसने सबको जगाकर उनसे क्षमा-याचना की और सबके साथ भोजन किया। फिर भी उनको भेद इस सन्देहके कारण नहीं बताया कि कहीं बात खुल जाय। प्रदीप झूठा साक्ष्य दिलवाकर मुझपर दावा कर दे। घरकी तलाशीमें

---

१. आजन्मानुगतेऽप्यस्मिन्नाले विमुखमम्बुजम्।
प्रायेण गुणपूर्णेषु रीतिर्लक्ष्मीवतामियम्॥
(सुभाषित-रत्नभाण्डागार, ६)

नोट प्राप्त हो जायँ, तो मुझे कारावासकी हवा खानी पड़े। वर्षोंकी जमी प्रतिष्ठा तो बिगड़ ही जाय।

बचनेका उपाय सोचते-सोचते उसे एक दिन ध्यान आया कि अपने अभिन्न मित्र वंशीधरके पास चलूँ, जो सत्यासत्य मामलोंकी जीत करवानेमें बड़ा प्रसिद्ध है। स्वामो रामतीर्थने कहा हैं—**पैये इल्म च शमअ बायद गुदाख्तं**—इल्मके लिए मोमबत्तीकी तरह घुलना चाहिए। मैंने देखा है कि वंशीधर रातमें जगकर बहुमूल्य पुस्तकोंसे खूब अध्ययन किया करता था। आधी निधि उसको दे दूँगा—दोनोंमें बात पक्की हो गयी। कहा है :

जो धन जातो जानिये, आधो दीजै बाँट।

(४)

तकदीरके लिखेको तदबीर क्या करे? एक दिन प्रात:काल ही उसने पड़ोसमें एक याचकको यह गाना गाते हुए सुना। सुनते ही सुकर्म-दुष्कर्मका फलाऽफल बतानेवाला उसका विवेक जाग उठा। सोचा—"यह चोरीका परधन पचा लेना मेरेलिए कठिन है। तब क्या करूँ, यत्नसे लायी हुई इस निधिका? वापस लौटाना होगा।"

पौ फट रही थी। पक्षी चहचहा उठे थे। गोधन वनमें जानेको घरोंसे निकल पड़ा था। ऐसे सुहावने समय मोहन बगलमें कुछ दबाये चुपचाप भवनसे निकलकर प्रदीपके घर जा पहुँचा। उसे देखते हो प्रदीप आश्चर्य, किन्तु शिष्टाचारपूर्वक बोला : 'आइये, मोहनलालजी साहब! आज कैसे कष्ट उठाया? मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहिये।'

मोहनने कोई उत्तर न देते हुए दीनतासे प्रदीपके पाँव पकड़ लिये, और ७००) रुपयेके नोट उसके हाथोंमें दे सिसकियाँ भरते हुए कहने लगा : 'मैं चोर हूँ आपका!'

प्रदीप : 'यह क्या कह रहे हैं आप? आप तो दीपनगरके माने-सन्माने धनवान् जागीरदार हैं। मैं तो एक तुच्छ व्यक्ति हूँ।'

मोहन बीचमें ही बोल उठा : 'नहीं-नहीं, ५ की जगह ५ अरब भी होते, तो भो राँका-बाँकाकी भाँति मुझे उनपर धूल ही डालनी चाहिए थी। मैंने आढ़त लेनेमें भी कृषकोंके साथ बेईमानी की है। घरमें भी भगवान्‌का दिया धन-जन, मान-सम्मान सभी है। पूर्वजोंके समयसे हमारे भवनमें धर्मानुरागकी गंगा बहती आयी हैं। फिर मेरी मति न जाने क्यों भ्रष्ट हो गयी! आपको भी संकटमें डालकर मैंने भारी अपराध किया। सच है—'जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन।' मैंने उस दिन होटलमें आमिष-भोजन किया था। अब आपसे क्षमा चाहता हुआ शरणागत-प्रतिपालक श्रीकृष्ण भगवान्‌से प्रार्थना करता हूँ कि 'अब मेरी मति कभी भी भ्रष्ट न हो। लोभ, मोह, चोरी, धोखा आदि दुर्गुणोंके पास स्वप्नमें भी न जाऊँ।'

अत्यन्त दीनभावसे यह प्रार्थना करते-करते मोहनको मानो ध्यानावस्थाने आ घेरा। प्रदीपने उठाकर प्रेमपूर्वक उसे हृदयसे लगाया, मानो वर्षोंसे बिछुड़े हुए साथी मिल रहे हों।

प्रदीपने ७००) के नोट जब नन्दजीको दिये, तो उन्होंने एकान्तमें मोहनको बुलाकर कहा : 'प्रिय मोहनजी, भूल बड़ों-बड़ोंसे होती है। आप जरा-सा भी दु:ख न मानते हुए इन नोटोंको ले जाकर दीनजनोंकी सेवामें व्यय कर दें।'

उदार, धर्मंमूर्ति नन्दजीके मुखसे यह सुनते ही मोहन अविरल अश्रुधारा बहाते हुए कहने लगा : 'धन्य है आप; किन्तु मुझे इतना दु:ख हो रहा है कि धरती फट जाय तो उसमें समा जाऊँ। बार-बार प्रभुसे विनती है :

करुणानिधान भगवान् करी क्यों देरी।
दुखहरो द्वारकानाथ शरण मैं तेरी ॥

× × × ×

प्रेमी नन्दजीने सस्नेह मोहनके मस्तकपर हाथ रख उसे हृदयसे लगाते हुए सान्त्वना दी, और उसके बहुत आग्रह करनेपर ७०० लेकर धार्मिक कार्योंमें व्यय करवा दिये।

मोहनका हृदय भगवत्कृपासे निर्मल, पापरहित, विकारशून्य और लोभ-लालच-विहीन बन चुका था। घर आकर उसने भगवान्‌का भजन करना आरम्भ कर दिया। विश्वास, दृढ़ता और प्रेमपूर्वक निस्स्वार्थभावसे निरन्तर भजन करते रहनेके प्रभावसे उसके सभी कल्मष धुल गये और मुखमण्डल एक अपूर्व तेजसे चमक उठा, जिसके आकर्षणमें आकर अनेक मनुष्य भगवत्परायण होकर भगवद्भजनमें तल्लीन रहने लगे।

वंशीधरने आढ़त-दलालीपर कुछ व्यक्ति नियत कर रखे थे कि झूठे-सच्चे मामलोंमें फँसाकर असामियोंको उसके पास लायें। पर अब मोहनका उदाहरण देखकर उसे इस प्रकार पापकी कमाईसे घृणा हो गयी। अतः उसने वकालतका पेशा छोड़ अध्यापन-कार्य द्वारा अर्थोपार्जन करते हुए मोहनके साथ, नन्दजीका आदर्श एवं भक्तिका प्रकाश सामने रखकर सप्रेम ईश्वर-भजन प्रारम्भ कर दिया। दोनों मित्रोंने **सब तज हरि भज** के सिद्धान्तानुसार निशि-दिन भगवत्स्मरण करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत किया।

•

हनुमज्जयन्ती

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको श्री हनुमानजीकी जन्म-तिथि होनेसे उस दिन उनकी जयन्ती मनायी जाती है। हनुमान् जी आजीवन ब्रह्मचारी, भक्त-हितकारी, असुरसंहारी, आर्तरक्षणकारी तथा अतुलित बलधारी हैं। उनका जीवन सीताराममय है। इस दिन इनके दिव्य गुणोंका स्मरण चिन्तन करते हुए श्रीराम-भक्तिकी प्रेरणा लेनी चाहिए।

•

दो रास्ते : श्रेय और प्रेम

श्री हरिकिशनदास अग्रवाल

★

जगत्में दो ही मार्ग हैं; एक श्रेय-मार्ग और दूसरा प्रेय-मार्ग। मनका इन्द्रिय-सुखके अधीन हो संसारोन्मुख होते हुए उन्हींके विषयोंमें सुखके लिए भटकना प्रेय-मार्ग है। मन-इन्द्रियोंका विवेकवती बुद्धिके अधीन होकर सच्चे अखण्ड सुखकी ओर चलना श्रेय-मार्ग हैं। दोनों मार्गोंमें मन ही काम करता है। मन ही अपनी रुचिके अनुसार इन्हें ग्रहण करता है। अतएव मन ही बन्धन और मोक्ष दोनोंका कारण कहा गया है। मन जब विषयाधीन हो जाता है, तो बन्धनका कारण बन जाता है, पर जब वह आत्मस्थित होता हैं, तो मोक्षका कारण बनता है। यह मन विविध प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका एक पुलिंदा ही है। विषयोंसे रहित ब्रह्मोन्मुख मन ही श्रेयोमार्गी होता है। विषयाधीन मन जीवसृष्टिकी परिच्छिन्नताके अधीन घूमता रहता है। वही मन जब भगवदाकार हो जाता है, तो ब्रह्ममय बन जाता है।

सम्प्रदायोंकी विभिन्नताके कारण परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग अनेक दिखायी पड़ते हैं। किन्तु हमारे लिये तो मुख्यतः दो ही मार्ग हैं : एक, हम मनको भगवद्भावसे ऐसा परिपूर्ण करें कि उसमें भगवान्के सिवा और कुछ रह ही न जायें, अथवा भगवान्की इतनी सेवा-पूजा करें कि मन भगवद्भावसे सदा परिपूर्ण बना रहे। दूसरा, हम अपना अहंभाव बिलकुल समाप्त कर दें। अहंभावसे खाली मनुष्य परमात्मरूप ही हो जाता है। परमात्माको पानेमें अहंभाव ही बाधक है। यही एक ऐसा विघ्न है जो हजार प्रतिबन्धोंको खड़ा कर लेता है। मनुष्य अपनी ही परिच्छिन्न जीव-सृष्टिके कारण अपनी ही बनायी परिच्छिन्नताओंमें घूमता रहता है, किन्तु जैसे-जैसे परिच्छिन्नता, परिमितता मिट जाती है, मन ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त होता जाता है।

जो घाट गंगाके तटपर हैं, उनका सम्बन्ध गंगाके साथ है। गंगा उन घाटोंपरसे सदा बहती रहती है। गंगाके किसी भी घाटपर स्नान गंगाका ही स्नान होगा। मन भी एक प्रकारका घाट ही है। जब यह भगवद्भावसे भर जाता है, तो उसमें भगवद्भावका रस बहने लगता है। दूर हो जानेके कारण जिन घाटोंका गंगासे सम्बन्ध नहीं रहता, गंगा उनमें नहीं बहती।

प्रेयमार्गपर चलनेवाले लोग भगवद्भावके घाटसे दूर हो गये हैं, इसलिए उनमें भगवद्भावका रस नहीं बहता। गंगा उन्हीं घाटोंमें बहती है, जो नित्य-निरन्तर गंगाके प्रवाहसे

सटे हों। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवद्-भावमें डूबे हों, वे ही उसके रसमें डूबे रहेंगे। गंगाके साथ घाटका सम्बन्ध होनेके कारण घाट भी शीतल हो जाता है। भगवद्-भावसे सम्बन्ध हो जानेसे मनुष्यके अन्दर भी एक अद्भुत शान्तिका साम्राज्य छा जाता है।

दूसरा मार्ग अपनेको खाली कर देना है। शहरोंमें पानीके नल लगे होते हैं। वे अन्दरसे खाली होते हैं। इसीलिए उनमें पानी बहता है। अगर उनके अन्दर कीचड़-कंकड़, पत्थर जमा हों तो नलमें पानी होते हुए भी वह नलसे बाहर नहीं बहता। इसी प्रकार मनुष्यमें भी अहंभाव एक प्रकारकी मलिनता है। विशुद्ध वृत्तिके बहनेमें वही भारी रुकावट है। जबतक यह मलिनता दूर नहीं हो जाती, तब तक उसमेंसे रस नहीं बह सकता।

अस्पतालोंमें जब विश्लेषणके लिए खून निकालते हैं, तो इन्जेक्शनको हवासे रिक्त कर लेते हैं, जिससे इन्जेक्शनके रिक्त स्थानपर खून भर जाय। इसी प्रकार मनुष्यका मन संकल्प-विकल्पों और विचारोंसे कभी खाली ही नहीं रहता। किन्तु ज्यों ही मन संकल्प-विकल्प और विचारोंसे खाली हो जाता है, मनुष्यके अन्दर एक शान्तिका साम्राज्य-सा छा जाता है। जब मनुष्य अपने परिच्छिन्न अहंभावसे खाली हो जाता है तो उसमें केवल ब्रह्मता ही रह जाती है। जिन लोगोंका मन सङ्कल्प-विकल्प आदिसे खाली नहीं होता, उन्हें ब्रह्मताका अनुभव नहीं होता।

परमात्मा तो हमपर कृपा करनेके लिए टकटकी लगाये हुए है। किन्तु हम ही ऐसे अभागे हैं, जिन्हें उसकी ओर देखनेकी फुरसत ही नहीं है। हमारा तादात्म्य जुटा हुआ है संकल्प-विकल्प और विचारोंके साथ, इसीलिए परमात्मासे तादात्म्य टूट गया है। किन्तु ज्यों ही संकल्प-विकल्प और विचारोंसे तादात्म्य टूटेगा त्यों ही परमात्मासे तादात्म्य जुड़ जायगा। संकल्प-विकल्पोंसे खाली मनमें केवल परमात्मा और उनके अनुभवके आनन्दकी अखण्ड शान्ति ही रह जाती है।

मनुष्यका मन एक समयमें एक ही काम कर सकता है, या तो विषयोंके साथ तादात्म्य जोड़कर उनमें आसक्त हो जाय या परमात्मासे नाता जोड़कर विषयोंसे निरासक्त हो जाय। जिसे भगवान्‌के अनुभवका आनन्द आ जाता है, वह फिर क्षणिक आनन्दकी ओर नहीं जाता। जब मनुष्यके हाथमें हीरे आ जाते हैं तो कंकड़-पत्थर अपने आप ही छूट जाते हैं। आत्मानुभूति होने लगे तो विषयानन्द अपने आप ही छूट जाते हैं।

वास्तवमें जीनेके रास्ते दो ही है। एक तो प्रेय-मार्ग, दूसरा श्रेय-मार्ग। श्रेय मार्गमें भी अपनेको भगवद्भावसे परिपूर्ण कर देना अथवा अपनेको परिच्छिन्न अहंभावसे खाली कर देना है। भगवद्भावकी परिपूर्णताके लिए शरणागति परमावश्यक है। परिच्छिन्नता हटानेके लिए भी अपना अहंभाव हटाना आवश्यक है। एक है भक्ति-मार्ग तो दूसरा है ज्ञानमार्ग। भक्ति-मार्गमें साधक किसीका हो जाता है, वह अपनेको परमात्मामें मिला देता है। ज्ञान-मार्गमें मनुष्य अहंभावसे खाली होकर परमात्माको अपनेमें उतार लेता है। यदि ज्ञानपूर्वक भक्ति होती है, तो उसमें अपने भीतर भी सदा भगवान्‌का साक्षात्कार होता रहता है। अन्तमें उपास्य-उपासकका भाव भी मिट जाता है।

कृष्ण-भक्त, कृष्णको भोग लगाकर खाते हैं। कृष्णके आगे कीर्तन करते हैं, नाचते हैं, उसकी गीता और श्रीमद्भागवतका अध्ययन करते हैं। सोते, जागते-चलते फिरते हर समय कृष्ण-भक्ति, कृष्ण-चेतनामें ही जीते हैं। इस प्रकार उनका जीवन ही कृष्णमय हो जाता है। यही भक्ति-मार्ग है।

मनुष्य अपनी परिच्छिन्न जीव-सृष्टिके अहंभावसे जब खाली हो जाता है, तो वह ईश्वर-सृष्टिमें निवास करने लगता है। उसके अंदर सिवा ईश्वरके और कुछ नहीं रहता। वह ईश्वरको अपने अन्दर ले आता है। उसीको सर्वत्र देखता है।

यदि ज्ञानी भक्त, चाहे तो प्रेय-मार्गको भी अपनी दृष्टिसे श्रेय-मार्ग बना सकता है। वह प्रत्येक इष्ट पदार्थमें अपने परमेष्ट कृष्णकी ही झाँकी देखा करे। अपने लौकिक आनन्द भी उसीके विविध रूपोंसे समझे। प्रत्येक विषयमें भी उसीके कारनामें अनुभव करे तो इसमें भी यह सदा निरासक्त एवं सर्वेश कृष्णमय ही बना रहता है। ज्ञानी भक्तोंकी दुनियामें प्रेय भी श्रेयका अंग ही बनकर रहता है। अतः संसारियोंको श्रेय-प्रेय एवं ज्ञानी-भक्त शरणागतोंके लिए एकमात्र श्रेय ही सामने रहता है।

●

विधान

मनुष्य इस छोटी-सी
सारहीन जिन्दगीके लिए
कितने विचार बनाता है,
कितने सामान जुटाता है;
लेकिन अफसोस.
उनसे अपनेको
और अपनेसे उनको
न तो सुरक्षित कर पाता है
और न स्थिर ही;
प्रकृतिका चक्र घूमता है,
जो उन्हें तो बदलता ही है,
साथ-साथ अपनेको भी
मृत्युके द्वारा
परिवर्तित कर देता है

●

भागवतकी दो रोचक कथाएँ

श्री अगरचन्द नाहटा

★

भारतीय साहित्यमें पुराण-साहित्यका विशिष्ट स्थान है; क्योंकि वेदों और उपनिषदोंमें जो बातें हैं वे सर्वसाधारणकी समझके बाहर हैं। इसीलिए ऋषि-मुनियोंने सर्व-जनोपयोगी पुराण-ग्रन्थोंका निर्माण किया और समय-समयपर लोकरुचिके अनुसार उसमें परिवर्तन और परिवर्धन किया जाता रहा। पुराण एक तरहसे पौराणिक कथाओंके भण्डार हैं, जो जनजीवनमें धार्मिक भावनाको पनपाने और बढ़ानेके लिए लिखे गये हैं। इतिहास लिखनेकी वर्तमान प्रणालीसे भिन्न होनेपर भी पुराणोंमें ऐतिहासिक सामग्री भी यथेष्ट परिमाणमें पायी जाती है। भौगोलिक विवरण भी प्राचीन भौगोलिक ज्ञानके लिए उपयोगी है। इस तरह अनेक दृष्टियोंसे पुराण-ग्रन्थोंका बड़ा महत्त्व है। उससे आकृष्ट होकर कई जैन-विद्वानोंने भी अपने महापुरुषोंके जीवन आदि पुराण-संज्ञक ग्रन्थोंकी रचना की है। इस सारे पुराण-साहित्योंका गहरा और तुलनात्मक अध्ययन किया जाना आवश्यक है। पौराणिक-कथाकोष, पुराण-सन्दर्भ, पुराण-विमर्श आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं। पर अभी इस सम्बन्धमें बहुत कुछ कार्य करना शेष है। कई पुराणोंके 'सांस्कृतिक अध्ययन' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए, वे काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

पुराणोंकी संख्या १८ प्रसिद्ध हो गयी है, पर वर्तमानमें और भी बहुतसे पुराण प्राप्त है, जिन्हें 'उपपुराण' कहा जा सकता है। प्राप्त सभी पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस पुराणपर जितना अधिक लिखा गया है, जितनी अधिक टीकाएँ और अनुवाद आदि रचे गये है। उतना अन्य किसी भी पुराणपर नहीं लिखा गया है। भक्ति-सम्प्रदायका यह मान्य ग्रन्थ है। इस पुराणकी सचित्र प्रतियाँ भी बहुत अधिक प्राप्त हैं। जै - आगम नन्दी-सूत्रमें भी इस पुराणका उल्लेख मिलता है।

भागवत पुराणमें २४ अवतारोंकी कथाएँ हैं। उनमें सबमें अधिक विस्तृत श्रीकृष्णावतारको कथा है। प्रसंगवश अन्य भी कुछ कथाएँ इस पुराणमें बड़ी सुन्दर और रोचक पायी जाती है। उनमेंसे दो प्रबोधक और उद्‌बोधक कथाओंको यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इनमेंसे पहली कथा वृकासुर नामक राक्षसकी है जिसने भोले भगवान् शंकरको प्रसन्न कर एक जबरदस्त वरदान प्राप्त किया, पर उसका दुरुपयोग करनेको तैयार हो गया तो विष्णुने किसी तरह चाल चलकर शिवकी रक्षा की। इस तरह दुष्टके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसकी

उत्तम शिक्षा मिलती है। दूसरी कहानी भृगुऋषिकी प्रसिद्ध है। इसमें विष्णुकी नम्रता और क्षमा बहुत ही अनुकरणीय और प्रशंसवीय है।

वृकासुर-कथा

ब्रह्मा, विष्णु और शंकर इन तीनोंमें शंकर शीघ्रतासे प्रसन्न होनेवाले देव हैं। पर शंकर जिस तरह शीघ्रतासे प्रसन्न होते है, उसी तरह क्रोधित भी शीघ्र ही हो जाते हैं। राक्षस वृकासुरने शंकरको जल्दीसे प्रसन्न होनेवाला समझकर कठोर तपस्या की। यह तपस्या यहाँ तक पहुँची कि वृकासुर भगवान् शिवके दर्शनार्थ अपने शरीरका मांस काट-काटकर होम करने लगा। भगवान् शिव भक्तकी इस चरम भक्ति-भावनापर प्रसन्न हुए और मनोवाञ्छित वरदान देते हुए हुए बोले : 'जिसके सिरपर तुम हाथ धरोगे, वही जलकर भस्म हो जायगा।' इस वरदानका उसने बड़ा दुरुपयोग किया। वह भगवती पार्वतीको प्राप्त करनेकी इच्छासे भगवान् शिवके सिर पर ही हाथ धर उन्हें भस्म करने हेतु दौड़ा। अब आगे भगवान् शिव और पीछे वृकासुर ! आखिर भगवान् विष्णुने बटुकरूप धारणकर राक्षसको भ्रममें डाला कि 'अरे भगवान् शिवने जो वरदान दिया है, वह सत्य भी है या नहीं. परीक्षा तो करके देख ? तू स्वयं एकबार अपने सिरपर हाथ धरके परीक्षा तो कर ले ?' बटुकके इस प्रकार कहनेपर उसने अपने सिर हाथ धरा तो वह वहीं भस्म हो गया। इस तरह विष्णुने राक्षसको मारा और शिवका रक्षण किया।

भृगुऋषिकी परीक्षा

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन तीनोंमें उत्तम देव कौन है, इसके परीक्षार्थ ऋषियोंने भृगु ऋषिको भेजा। सर्वप्रथम वे ब्रह्माके पास गये और विना वन्दना आदि किये अकड़कर एक किनारे खड़े हो गये। भृगुऋषिकी यह प्रवृत्ति ब्रह्माको अत्यधिक बुरी लगी, पर वे मौन रहे। फिर भृगुऋषि भगवान् शिवके पास गये और वहाँ भी वैसा आचरण किया। भगवान् बड़े क्रोधित हुए और ऋषिपर त्रिशूल हाथमें ले मारने-हेतु दौड़े। अन्तमें वे वैकुण्ठ-लोकमें शेष-शायी भगवान् विष्णुके पास गये और जाते ही उनके शरीरपर लात मारी। पर भगवान् विष्णु क्रोधित होनेकी अपेक्षा यह कहने लगे : 'भगवन् ! आपके पाँवके चोट तो नहीं लगी ?' यह कहते भगवान् विष्णु ऋषिके पाँव दबाने लगे।

ऋषिने भगवान् विष्णुको बाहोंमें भरकर कहा : 'भगवन्, आप सबसे महान् हैं। सत्त्वगुण ही सभी पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेका कारण है।'

यह दोहा इस सम्बन्धमें बहुत ही प्रसिद्ध है :

क्षमा बड़नको होत है ओछनको उत्पात।
कहा कृष्णको घटि गयो जो भृगु मारी लात॥

●

रामराज्य-संकीतन

स्व० आचार्य श्री बिन्दुजी महाराज

श्री रामराज्य परिपूर्ण वसुन्धरामें
आवेश द्वेष कुछ क्लेश कहीं नहीं था।
सर्वत्र सुस्मरणकी ध्वनि एक ही थी
श्रीरामचन्द्रचरणं शरणं प्रपद्ये॥

आचार, सत्य, उपकार, समाज-सेवा—
सत्कार शुद्ध व्यवहार व्रतो सभी थे।
सर्व प्रकार सबकी यह धारणा थी
श्रीरामचन्द्रचरणं शरणं प्रपद्ये॥

कोई विरोध करता न कभी किसीसे
थी साम्यता, विषमता न कहीं दिखाती।
सर्वत्र एक स्वरसे यह प्रार्थना थी
श्रीरामचन्द्रचरणं शरणं प्रपद्ये॥

थीं, चार वर्ण चतुराश्रमकी प्रथाएँ
वेदानुकूल पथको सब पालते थे।
प्रत्येक आचरणमें यह भावना थी
श्रीरामचन्द्रचरणं शरणं प्रपद्ये॥

अन्यायमें कुपथमें चलता न कोई
तापत्रयादि रुज व्याधि न व्याप्त होते।
गाते सभी जन परस्पर प्रेमसे थे
श्रीरामचन्द्रचरणं शरणं प्रपद्ये॥

गोपाल-विद्या : एक परिचय

श्री प्रभुदयाल मीतल

श्रीकृष्णोपासनाके मध्यकालीन ग्रंथोंमें एक 'गोपालतापनीय-उपनिषद्' है। यह अपने नामके अनुरूप गोपाल श्रीकृष्णसे सम्बद्ध एक आध्यात्मिक रचना है। सूत्र-शैलीमें रची होनेसे यह मध्यकालीन ग्रन्थोंमें अधिक प्राचीन जान पड़ती है। इसमें गोपाल श्रीकृष्णके आध्यात्मिक स्वरूपका विवेचन, उनके पञ्चपदात्मक मन्त्रकी व्याख्या और उस मन्त्र द्वारा भगवान् गोपालकी सावरण पूजा, उनका ध्यान तथा उनकी स्तुतिका उल्लेख है। इसी प्रसंगमें 'गोपाल-विद्या'का भी विवेचन किया गया है। यहाँ इसीका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

गोपाल-विद्याका मूल मन्त्र 'कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' बतलाया गया है। इस पञ्चपदात्मक मन्त्रके आदिमें त्रितत्त्वात्मक कामबीज लगानेका विधान है। यह कामबीज 'क्लीं' है। इसकी व्याख्या करते हुए बतलाया है कि इसमें 'क' अक्षर जलतत्त्ववाची है, 'ल' पृथ्वीतत्त्वका बोधक है, 'ई' शब्दमात्रात्म-अग्नि है, उसकी ज्योति लिए हुए अनुस्वारका ऊपरवाला बिन्दु '-' चन्द्रमाका तेज:स्वरूप है। इन अग्निगर्भित त्रितत्त्वात्मक शक्तियोंका एक समन्वित स्वरूप कामबीज 'क्लीं' है।

गोपाल-मन्त्रके पाँच पदोंको उसी प्रकार पञ्चतत्त्वोंसे परिपूर्ण कहा गया है, जिस प्रकार यह ब्रह्माण्ड और जीव-पिण्ड है। गोपाल-मन्त्रयुक्त श्रीकृष्णतत्त्व सम्पूर्ण चराचर विश्वमें व्याप्त है। इस कृष्ण-तत्त्वसे तीनों लोक, तीनों काल, तीनों तत्त्व ओतप्रोत हैं। यही गोपाल-विद्याका मूल तत्त्व है।

गोपाल-विद्याकी प्राप्तिके लिए गोपाल श्रीकृष्णका ध्यान और उनकी सावरण पूजा करनेकी विधि बतलायी गयी है। पूजाका विधान इस प्रकार है;

"गोपाल भगवान्की पूजा-अर्चना-हेतु सुवर्णका एक अष्टदल कमल बनाया जाय। उसके भीतरी भागमें दो त्रिकोण बनाये जायँ। मध्य भागमें गोपाल भगवान्का कामबीज 'क्लीं' लिखें। षट्कोणके संधि-स्थानोंपर 'क्लीं कृष्णाय नम:' मन्त्र लिखा जाय। इस पूजा-चक्रके पूर्व, नैऋर्त्य, वायव्य कोणोंमें 'श्रीं' बीज-मन्त्र लिखे तथा अग्नि, पश्चिम, ईशान कोणोंमें 'ह्रीं' बीज लिखे। इसी प्रकार अष्टदल कमलके दलोंपर अड़तालीस अक्षरोंवाले 'अनंग-गायत्री' मन्त्रके छह-छह अक्षर लिखें जो इस प्रकार हैं :

कामदेवाय, सर्वजनप्रियाय, सर्वजनसंमोहनाय, ज्वल ज्वल, प्रज्वल-प्रज्वल, सर्वजनस्य हृदये प्रवेशं कुरु कुरु स्वाहा। इसके बाद इस अष्टदल कमलके चारों ओर एक वृत्त बनाये। उसपर कामबीजसहित बारह मातृकाएं लिखे। इसके भी बाहरी भागमें फिर अष्टवज्रोंसे युक्त भूगृह बनायें।

"इसके अनन्तर ॐ नमो विष्णवेस वैभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोग-पद्मपीठात्मने नमः इस मन्त्रसे मन्त्र-पीठका विन्यास कर गोपाल भगवान्का पञ्चपदी मन्त्रसे आवाहन करें। इस मन्त्र-पीठपर फिर मूल-मन्त्रसे ही गोपाल भगवान्का अर्घ्यधूपादिसे सांग पूजन करें। यन्त्र-पीठके मध्य प्रधान देवता गोपाल भगवान्का षोडशोपचारसे पूजन कर फिर दलोंपर सावरण पूजा करनी चाहिए। आवरणयुक्त महाऐश्वर्यमय, सर्वसामर्थ्यशाली भुवन-संमोहन प्रभु गोपाल देवाधिदेवका पूजन सर्वाभीष्ट-प्रदाता है।

"यह पूजन गोपाल भगवान्के शरणागत भक्तजनोंको प्रातः या सायंकालीन एक सन्ध्यामें, अथवा तीनों सन्ध्याओंमें करना चाहिए। इसे मानसिक पूजा या द्रव्याभावमें ध्यान-योगसे, मध्यम स्थितिमें यथालब्ध उपचारोंसे, सम्पन्न स्थितिमें षोडशोपचारसे तथा उच्च समृद्ध स्थितिमें महाराजोपचारसे करे। प्रभुके दिये विभवको उन्हींकी कृपानुरूप स्थितिमें सत्यात्म-निवेदन-भावसे अर्पण करते हुए उनकी सांग अभ्यर्थना करें।"

उपनिषत्कारका कथन है कि इस प्रकार गोपाल-विद्याद्वारा गोपाल श्रीकृष्णका पूजन-आराधना करनेसे आराधक जीवके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे पुरुषार्थचतुष्टय, (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की सहज सिद्धि होती है।

श्रीकृष्णगोपासनामें 'गोपाल-विद्या'का यह विधान तान्त्रिक युगकी देन जान पड़ता है। जिस समय भारतके सभी धर्म-संप्रदायोंमें तान्त्रिक साधनाका किसी-न-किसी रूपमें समावेश हो गया था, उस समय कृष्णोपासनाके प्रचारक भागवत-धर्म भी स्थापित हो गये थे, जहाँ तांत्रिक विधिसे वासुदेव श्रीकृष्णकी पूजा-उपासना की जाती थी। कृष्णोपासनाके प्रधान केन्द्र व्रजमण्डलमें तांत्रिक उपासनाका अधिक प्रभाव नहीं हुआ।

●

'झूठको जवाब ही नहीं देना यह अपनी मौत ही मर जायगा। असत्यके पास अपनी कोई शक्ति नहीं होती। यह विरोधके बलपर ही फूलता-फलता है।'

—गांधी जी

'भारत जैसे गरीब देशमें, जहाँ एक पैसेका अन्न लेनेके लिए लोग मीलोंसे दौड़ आते हैं, जो दीन-दुखियोंकी चिन्ता रखना चाहता है, उसे कीमती गहने पहनना शोभा नहीं देता।'

—गांधी जी

मोहनमन-अधिवासिनी श्रीराधासे !

श्री जगदीशशरण बिलगइयाँ 'मधुप' साहित्यालंकार

श्री राधा के पद-कमल हैं शाश्वत सुख खान।
अरे मधुप! इनमें लिपट कर मधुमय रस पान ॥ १ ॥

जिन चरननके ध्यान तैं जोगी भये अकाम।
उन चरननको ध्यान धर बनैं जगतको काम ॥ २ ॥

राधा-राधा रटत ही बाधा होत विलीन।
तन, मनको यों सुख मिले ज्यों अगाध जल मीन ॥ ३ ॥

राधा नाम अनन्त हैं महिमा तदपि अनन्त।
नेति-नेति आगम कहें पार न पावैं सन्त ॥ ४ ॥

श्री वृषभानु किसोरि कै पद अरविन्द महान्।
सदा प्रफुल्लित निरख कें नियमित निकसत भान ॥ ५ ॥

श्री राधा-मुख चन्द्रमा हरत निसा तम, तोम।
ज्योति अंसु लै मातु तैं विचरत है ससि व्योम ॥ ६ ॥

श्री राधा पद सीस धर धरैं सेस भू भार।
जाकी कृपा कटाक्ष तैं चलत जगत व्यौ ार ॥ ७ ॥

मोहन मन अधिवासिनी जाचक आयो द्वार।
भिक्षा दै माँ देसको हो नूतन उद्धार ॥ ८ ॥

●

अहंकारशून्य पूर्ण समर्पण-भाव

देहात्मभावसे मुक्तिकी कला

श्री स्वामी मनुवर्य

★

हमारी उपनिषदोंमें स्पष्ट उल्लेख है कि ईश्वरको प्रत्यक्ष नहीं जाना जा सकता। बाहर या भीतर अथवा दोनोंके योगसे भी यह सम्भव नहीं। जो कुछ जाना जाता है वह वही है, अथवा जो कुछ नहीं जाना जाता, वह वही है, और ऐसा भी नहीं है कि इन सबके योगसे जो जाना जायगा वह वही होगा। अर्थात् उसका दर्शन अगम्य है। उसकी पकड़ कठिन है। वास्तवमें 'ईश्वर' परिभाषा और विचारोंसे परे है। अनभिव्यक्त है। ईश्वरके अस्तित्वका एकमात्र प्रमाण उसके साथ तादात्म्य है। इस तादात्म्यके लिए 'योग-समाधि' ही एक मार्ग है। मनुष्य जब अहंसे ऊपर उठता और प्रकृतिसे भी आगे बढ़ जाता है, तब वह अन्तर्मुख होकर अपने सच्चे स्वरूपके साथ तादात्म्य स्थापित कर स्वचेतनामें प्रतिष्ठित होता है।

मनुष्य-जीव का लक्ष्य है अपने आपको पहचानना। योगकी सभी प्रक्रियाओंका उत्स है, आध्यात्मिक पुनर्जन्म। जब साधक 'फोनिक्स' पक्षीकी भाँति अपना देहात्मभाव विसर्जित कर देता है, तभी वह ऊर्ध्व आध्यात्मिक चेतना तथा महत्तम दिव्यता सम्पादित कर पुनर्जन्म प्राप्त करता है। देहात्मभावसे मुक्तिका तात्पर्य है शरीर, मन, बुद्धि और अहंकारसे पूर्ण सीमित और संकुचित नीरस जीवनका अन्त। यह जादुई-परिवर्तन मात्र मानव-प्रयत्नसे नहीं, अपितु भगवद्-अनुग्रहसे ही सम्भव हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्तिके सामने यह समस्या है कि इस प्रकारके भगवद्-अनुग्रहके लिए किस प्रकार योग्यता प्राप्त की जाय? इस समस्याका समाधान स्वयं उसे ही ढूंढ़ निकालना चाहिए। मस्तिष्ककी विकृत भ्रामकता तथा पूर्व-स्वीकृत मान्यताओंका ह्रास आजके युगका लक्षण है। अनेककी दृष्टिमें जीवन एक अर्थहीन प्रहसनमात्र है। धार्मिक विश्वास तेजीके साथ क्षीण हो रहा है। इतना ही नहीं, मनुष्य सामाजिक तथा भौतिक प्रगतिकी दिशामें भी आस्था खो रहा है। अनेकानेक प्रचलित विविध 'वाद' भी दुर्भाग्यवश सम्पूर्णतः निरंकुश प्रमाणित हुए। बाहरसे समृद्ध और आबाद यूरोप तथा अमेरिकाके समाजमें आध्यात्मिक-शून्यताका ही यह परिणाम है कि द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ, जिसमें सामूहिक रूपसे नर-संहार होकर मनुष्यका पशुत्व उभर आया। महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा रमण महर्षिके पश्चात् हमारे देशमें भी सर्वत्र अशान्ति और भ्रष्टाचारका वातावरण दिखायी दे रहा है।

आज लगभग सभी शाश्वत-मूल्य टूट गये हैं। आशा और आस्थावादकी नीवें हिल गयी हैं। अचानक भयाक्रान्त एवं तर्कहीन दुनियाका सामना करनेके लिए मनुष्यको विवश हो प्रस्तुत होना पड़ रहा है। लगता है, संसारसे शान्ति लुप्त हो गयी। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि पहलेकी अपेक्षा आज सम्पूर्ण विश्वमें मनुष्य शान्ति, सुख और आध्यात्मिक-शक्तिकी अभिलाषामें इतना आतुर है कि यदि उसे इसकी प्राप्तिका स्थान ज्ञात हो जायँ, तो वह अपना सम्पूर्ण समर्पित कर दे।

बाह्य और आन्तरिक विध्वंसात्मक परिबलोंने आज जीवनको विषाक्त बना दिया है। इसलिए यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि मनुष्य आज जो कुछ सृजनात्मक है, उसके प्रति आकांक्षी हो। किन्तु सामान्यतः पूर्व और पश्चिमका व्यक्ति अपने आपको मात्र बाहरी परिवेशके संदर्भमें ही प्रस्तुत करता है। जिस समय उसका ध्यान आन्तरिक उपलब्धियोंकी ओरसे हट जाता है, उस समय जीवन-चैतन्यकी ओरसे ध्यानशून्य होनेके कारण वह जागतिक कोलाहलकी ओर मुड़ता है। परिणामस्वरूप एक कठोर घेरेमें जकड़ जाता है। आध्यात्मिक चेतनासे विमुक्त व्यक्ति अपने अहंको संतुष्ट करने और उसकी रक्षा करनेमें ही प्रयत्नशील रहता है। ऐसा व्यक्ति नष्ट-मूल मनके आवेगोंके वशीभूत होकर सामान्य उत्तेजनाओंसे स्फूर्ति प्राप्त करता तथा इन्द्रिय-सुखको कामना करता है। जीवनके प्रशान्त लयसे कटा ऐसा मनुष्य बाहरसे दिखाई देनेवाली व्यवस्थित दुनियामें शरण ढूँढ़ता है। फलतः आन्तरिक दिव्यतासे सम्बन्ध टूट जाता है और इसीलिए व्यर्थ, भ्रामक, दुनियावी कोलाहलमें व्यक्तित्वके शान्त स्वरूपको डुबा देता है।

विशाल मानव-जगत्ने बड़े धैर्यके साथ दो भयानक विश्व-युद्धोंकी आपत्तियोंको भोगा। अतः यह स्वाभाविक है कि अब वह वास्तविक सुख और शान्तिके लिए आतुर हो। हम इस बातसे भलीभाँति परिचित हैं कि जिस मनुष्यने दुःखोंके बीचसे जीवन व्यतीत नहीं किया, उसकी अपेक्षा वह मनुष्य, जिसने दुःखोंके मध्य जीवन जिया है, वास्तवमें परमात्मरूप सुख-शान्तिके अत्यन्त समीप हैं। इस विधानमें किसी बातका आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पश्चिमी जगत् शनैः-शनैः पूर्वी जगत्के प्राकृत, सुसंगत आध्यात्मिक जीवनके मार्गका अनुकरण कर रहा है।

जबतक मनुष्य अज्ञानमय जीवन व्यतीत करता है, तबतक वह अहंकारका खिलौना और प्रकृतिका दास बनकर ही रहता है। 'मैं' और 'मेरा'के दृष्टिकोणसे वह जबतक जागतिक दबावोंसे पीड़ित रहता है, तबतक उसका जीवन अवास्तविक ही रहता है। अर्थात् वह बाहरी दिखावोंका गुलाम, भले-बुरे, आनन्द-वेदनाके बीच त्रिशंकुकी तरह रहता है और विशाल जीवन-समुद्रसे लहरोंकी भाँति फेंक दिया जाता है। अतः सामान्य बौद्धिक-जीवनकी अपेक्षा उसे उच्च-आध्यात्मिक चेतना-सम्पन्न महत्तम दिव्य स्वरूपमें प्रकट होना चाहिए। इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए आवश्यक है कि वह अपना सर्वस्व परमात्माको समर्पित कर दे।

आत्मा क्या है? स्थूल-शरीर, सूक्ष्म मन, तीव्र बुद्धि, धड़कता हुआ हृदय या इन्द्रियाँ? उत्तर नकारात्मक है। मूर्खता तथा अज्ञान के कारण हम अपने आपको इनसे जोड़ते और दुःखी होते हैं।

इसके लिए मनुष्यको एक विनम्र साधक बनकर शक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्मयोगसे उसे प्राप्त करनेका भरसक प्रयत्न करना चाहिए। हम जानते हैं कि सामान्य शारीरिक व्यायामसे शरीरका विकास होता है, किन्तु आसन तथा यौगिक प्रक्रियाओंसे आन्तरिक अवयव (जैसे यकृत्, आँत, हृदय, फेफड़े, मगज, थॉयरोइड तथा पेरा-थॉयरोइड ग्रन्थियाँ और मगजमें स्थित पिच्युटरी एवं पिनियल ग्रन्थियाँ आदि) सक्षम बनते हैं। योगाभ्यासीको किसी एक आसनकी सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिए, जो उसे ध्यान और शान्तिसम्पन्न करनेमें सहायक सिद्ध हो सके। अष्टांग-योगके यम और नियम अभ्यासीकी चित्त-शुद्धिमें सहायक होते हैं। मनकी सूक्ष्मता और निर्मलतामात्र ही वास्तविकताके शोधके मार्गको सफल बनाती है।

शरीर, मन, हृदय और बुद्धि आत्म-साक्षात्कारके साधन हैं। अतः इन साधनोंको स्वच्छ, स्वस्थ और सुदृढ़ रखना अनिवार्य है। एकमात्र योग ही ऐसी पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है, जिसके द्वारा शरीर, मन और आत्माकी उन्नति सम्भव है। आत्म-साक्षात्कारके लिए इन साधनोंकी स्वीकृतिके पश्चात् साधकके लिए अपेक्षित है कि वह इन साधनोंकी विसंगतताओंको दूर करे, इनमें परस्पर सुसंगतता स्थापित करे तथा उन्हें तमस्‌से निकाल कर प्रकाशित कर दे। अतः 'सुसंगतता' योगकी पहली शर्त है।

'अहं' अतिसूक्ष्म है। इसीलिए वह बहिर्मनकी पकड़से बड़ी आसानीसे छूट जाता है। सभी साधकोंके लिए स्थूलशरीर एवं कुछ अंशोंमें मनको भी नकारना आसान है, किन्तु 'अहं' तो मनकी गहराइयोंमे बैठा है। अतः अहंसे मुक्त होकर शुद्ध चैतन्यके साथ तादात्म्य अनुभव करना ही आत्म-विचारणका ध्येय है। योगकी कोई भी प्रक्रिया देहात्मभावको विस्मृत करने तथा आत्माके सच्चे स्वरूपको जाननेकी एक कला है। इसलिए अपने अस्तित्वके असली स्वरूपको पहचाननेके निमित्त हमें प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करने चाहिए। अहंके कारण जबतक मन और बुद्धि मलिन रहते हैं तबतक हम अपना सच्चा स्वरूप पहचाननेमें असमर्थ रहते हैं। यही नहीं, तबतक मनुष्य अस्थिर, अवास्तविक विचारों, आवेगों, इच्छाओं तथा चतुर्दिक् परिस्थियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुझावों और दबावोंका दास रहता है। अल्पकालके लिए इन्हींके माध्यमसे शारीरिक और मानसिक व्यक्तित्वका निर्माण करता है।

मनुष्य जितना निर्मल होगा, उतने ही अनुपातमें उसका सच्चा स्वरूप उद्‌घाटित होगा। अहंके गल जानेपर चित्त-शुद्धि होती है और तब मानव आत्माकी गहराई अथवा चैतन्यकी ऊँचाईसे प्रत्येक कर्मका प्रेरक होगा। अथवा स्पष्टतः उसका प्रत्येक कार्यकलाप उस परमात्मा द्वारा संचालित होगा, जो उसके अन्तःकरणमें विराजमान है। उस अवस्थामें गीताके आदेशानुसार मनुष्यके प्रत्येक कार्य स्व-चेतनासे अनुप्राणित होंगे और वे परमात्मभाव एवं नियतिके अनुसार होगें। उसमें जानना, चिन्तन करना, कार्यरत होना, सेवा तथा अनुरागमय होना ईश्वर-पूजाके निमित्त ही होगें, यह उसकी अनन्त अभिव्यक्ति होगी।

अनन्तके साथ सुसंगत रूपमें जीवनयापन करना आसान नहीं है। जब साधक सम्पूर्ण शान्तिसे ध्यानमें बैठनेके लिए प्रयत्नशील बनता है तथा मनको विचारों, विषयों और जागतिक

क्रियाकलापोंसे रिक्त कर उनके स्थानपर परमात्माको विराजमान करनेका प्रयत्न करता है। तब वह स्वयंकी अस्थिरतासे मुग्ध होता है और यह अनुभव करता है कि किस प्रकार विविध विसंवादी आकांक्षाएँ, असम्बद्ध विचार-प्रवाह और भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ उसके मनपर प्रभाव स्थापित कर लेती हैं। जैसे ही वह अन्तर्मुख होनेकी दिशामें आगे बढ़ता है, वैसे ही अपने सामने विघ्न उपस्थित करनेवाली अनाकांक्ष्य क्रिया तथा आकर्षणोंके मानसे एवं अर्ध-चेतन मनसे उठनेवाले स्पन्दनोंसे भयभीत हो जाता है। किन्तु यदि साधक पूर्ण जागरूकता, दृढ़-विश्वास और अनन्त धैर्यके साथ निरन्तर अपने प्रयत्नोंमें लीन रहे, तो उसे यह अवश्य ही अनुभव होगा कि उसका आन्तरिक विरोध क्रमशः दूर हो रहा है। इसका कारण शारीरिक श्रम और तज्जन्य निद्रा नहीं, अपितु शारीरिक और मानसिक स्थिरता है, जो मूलभूत स्वरूपको प्रकाशित करती हैं।

यद्यपि मानसिक-कल्पनाओं, विचारों, संवेगों, संवेदनाओं, द्वैतभावोंसे अतीत मूलभूत-स्वरूप अपने अस्तित्वमें तो पहलेसे हो है। इस स्वरूपके साथ एकात्मता अनुभव करना ही साधकका चरम-लक्ष्य है। सच्चा साधक क्रमशः अनोखी जीवन-दृष्टि प्राप्त करता है और उसके द्वारा स्वरूपस्थ होकर नयी अद्भुत सार्थकताके साथ विरोधों और सीमाओंको पार कर जाता है। इस प्रकारकी जीवन दृष्टि प्राप्त करनेके पश्चात् साधक जीव-जगत्की कठिनाइयों तथा अशान्तियोंमें भी आत्म-स्वरूपके साथ तन्मयता एवं आनन्दका अनुभव करता रहता है। इस स्थितितक पहुँचनेके पूर्वतक तो मनुष्य यही अनुभव करता रहता है कि वह सिन्धुकी एक लहर-मात्र है वह येन-केन-प्रकारेण अपनी इस जीवनरूपी लहरको किसी प्रकार टिका रखनेका प्रबल प्रयत्न करता है, किन्तु आत्म स्वरूपका भाव होते ही उसे यह समझते देर नहीं लगती कि वह स्वयं समुद्र है और लहरका उत्थान-पतन समुद्रकी अखण्डताको किसी प्रकार दूर नहीं कर सकता।

साधक जब सिद्धि प्राप्त करता है, तब उसके अनुभव स्थिर होकर उसका स्वभाव बन जाते हैं। परिणामस्वरूप दैनिक-जीवनमें भी अद्वैतभावको अभिव्यक्त करनेवाली शान्ति और समता स्थापित करनेकी उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जीवनके द्वार भले ही खुलें और बन्द होते रहें, पर साधक तो दरवाजेके कब्जोंकी भाँति स्थिर रहता है। सहज संयमसे प्राप्त की गयी स्थिरता सम्पन्न करनेके पश्चात् साधक प्रारब्धानुसार अहंरहित होकर पूर्ण समर्पणभावसे अपना कर्तव्य निभाता है, भले ही उसे यह कर्तव्य एक किसान, श्रमजीवी, विद्वान् अथवा किसी अधिकारीके रूपमें ही क्यों न निभाना पड़े। जिसने अपने 'अहं'को विगलित कर दिया है उसने अपने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है। इसके पश्चात् वह दिव्य-शक्तिका माध्यम बनता है और महान् सारथि भगवान् श्रीकृष्ण उसके अहं-रहित रथका संचालन करते हैं। देहात्मभावसे त्यागकी कलाका उत्स है, कन्हैयाको बाँसुरी बनना और उसके माध्यमसे अनन्त समधुर-संगीत निनादित करना।

अनुवादक : डॉ० अरविन्द जोशी

मध्यभारत और मध्यदेशका भ्रमण

मेरी तीर्थ-यात्रा

कुमारी उमा मौडवेल

★

वर्षा बीत चुकी थी और अगस्त्यके उदय होनेसे पहले ही पन्थ भी सूख चुके थे। सुहावनी शरद् भी अपने साथ चुलवुले खंजन, फूले हुए कास और सुहावनी जुन्हाई लेकर आ पहुँची। बरसातकी ऊमस बदलीके साथ ही बीत गयी। इसलिए शरद् अपने साथ कुछ-कुछ गुलाबी ठंढक लेकर चारों ओर फैली। ऐसे सुहावने दिनोंमें राजा और साधु ही चढ़ाई करने और घूमनेके लिए नहीं निकलते, वरन् हम जैसे घुमक्कड़ोंके लिए भी इससे बढ़कर प्यारे दिन नहीं होते—न बरसातका डर, न गर्मीकी घबराहट, न सर्दीकी ठिठरन।

इस बार हम लोगोंने सोचा कि मध्यभारत और मध्यप्रदेशका चक्कर लगा लिया जाय। आठ दिन और आठ रातें देखते-देखते पलक मारते बीत गयीं। दिन और रात घूमना ही घूमना तो था। कभी-कभी खुले आकाशमें दिन और रातको कुछ बादलोंके नन्हें-नन्हें टुकड़े अपने हल्के-फुल्के पंख फैलाकर बयारकी धीमी लहरोंपर तैरते चले आते और चुपचाप न जाने कितने रंग-ढंग दिखाकर अठखेलियाँ करते इधरसे उधर निकल जाते। हम लोगोंका सबसे पहला धावा था कालिंजरके दुर्गपर, जो बुन्देलखण्डमें बाँदा जिलेमें भूमिसे ५३० हाथ ऊँचाईपर आधा कोस चौड़ा और चारों ओर परकोटेसे घिरा है, जिसे सातवीं सदीमें किसी केदारने बसाया था। फिर तो न जाने कितने राजाओंने इसमें राज्य किया और न जाने कितनी बार यह टूटा, फूटा, उजड़ा और बसा। पहले तो उसके चारों ओर परकोटा था जिसमें जानेके लिए चार फाटक थे। लेकिन अब कुल तीन रह गये हैं: १. कान्वाफाटक, २. पन्नाफाटक ३. रवाफाटक।

हम लोगोंकी टोली दो-चार पाँचकी नहीं, पचासीकी थी—अस्सी और पाँच। रेलगाड़ीका पूरा डिब्बा हमने घर बनाकर बसा लिया। उसीमें कहीं गाना हो रहा है, पहेलियाँ बुझायी जा रही हैं, चुटकुले सुनाये जा रहे हैं, कहानी कही जा रही है, कहीं खाना-पीना हो रहा है! यही सब करते-धरते हम लोग सोचते जा रहे थे कि बस दिन निकला नहीं कि कालिंजर पहुँचे।

अपने मन कछु और है विधनाके कछु और। ज्योंही हम कालिंजर जानेवाली वसके लिए रेलगाड़ीसे उतरे त्योंही वहाँ वालोंने बे-बस होकर बताया : 'वसके लिए बस कीजिये और बेबस होकर बैठ रहिये; क्योंकि जो वसें वहाँ जाती हैं वे अभी कुछ दिनोंतक वहाँ नहीं जा पायेंगी। बरसातमें सड़कें ऐसी कट गयीं हैं कि गाड़ी जाय तो बीचमें ही गड़प हो जाय।' सुनना था कि पचासी मुँहोंसे अचानक एक स्वरमें करुण 'हाय!' निकलकर आकाशमें गूँज उठी। चलिये, 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़े!' श्रीगणेश ही गुड़गोबर हो गया! 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' इसीको तो कहते हैं। पर जहाँ आहें निकली वहीं 'वाह' भी निकली। उच्छ्वासके साथ हँसी भी आयी और वह 'आह'की कराह थोड़ी ही देरमें हँसी बनकर फूट निकली। बुद्धू बने, पर पचासी लोगोंके साथ : **पंचों मिलके कीजे काज, हारे जीते होय न लाज।**

× × ×

अब दूसरा चारा ही क्या था? हम लोग वहाँ न उतरकर उसी गड़ीसे सीधे झाँसीकी ओर बढ़े। कालिंजरका दुर्ग केवल कल्पनामें कल्पित होने लगा। कालिंजरके तीनों फाटक मनमें मनहर मूरत बनाये खड़े हैं। उसके पासका भैरवकुण्ड, उसके तीरपर बनी भैरवकी वह बड़ी लम्बी-चौड़ी सूरत, उसके पास छोटी-सी गुफामें सीतारामकी शैय्या, जहाँ रामने लंकासे लौटकर एक दिन बिताया था, उसीके पास जलसे भरा पाण्डु-कुण्ड जिसमें बारह महीने पहाड़से रिसता जल टप-टप टपका करता है, सीतारामकी शैय्याके उस पार बाणगंगा (पातालगंगा), उसके आगे बुढ़िया तालाब, सिद्धकी गुहा, भगवान् शैय्या, पानीका अमान, उसीके पास मृगधर और दुर्गके बीचो-बीच कोटितीर्थका सुहावना-सा ताल, जिसके चारों ओर छोटे-बड़े न जाने कितने पत्थरके अटार, उसके आगे कवि तुलसीदास और जैनतीर्थंकरकी मूर्ति, अनगिनत गुफाएँ, उन गुफाओंमें बनी मूर्तियाँ सब एक-एक करके हमारे मनके पर्देपर चलचित्रके चल-चित्र बनकर घूम गयीं और बिना देखे ही हम उन सबकी कल्पनाके मनमोदकका स्वाद लेते रहे।

ज्यों-ज्यों गाड़ी झाँसीकी ओर बढ़ी चली जा रही थी, त्यों-त्यों बरसातके पानीसे धुली और पली हरियाली, दोनों ओरकी पहाड़ियाँ आँखोंमें बरबस रस भरती चल रही थीं। हमलोग ओरछाके पास पहुँच रहे थे। ओरछासे पहले 'नया-सागर' नामका स्टेशन पड़ा। वहाँ देखकर अचरज हुआ कि सब लोग उतर-उतरकर साबुनकी बट्टियाँ क्यों मोल ले रहे हैं। पूछनेपर बताया गया कि वे साबुनकी बट्टियाँ नहीं, खोवेके पेड़े हैं। फिर क्या था? हमारी मण्डली भी उन पेड़ोंपर टूट पड़ी। 'भूखमें तो किवाड़ भी पापड़ लगते हैं' फिर वे तो पेड़े थे।

गाड़ीने सीटी दी और चल पड़ी। ओरछासे आगे बढ़ते ही दूरसे ही झांसीका वह लम्बा-चौड़ा दुर्ग दिखायी देने लगा जिसमें महारानी लक्ष्मीबाईने सन् १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र-युद्धमें अंग्रेजोंसे प्रथम लोहा लिया था। अब तो केवल उसकी स्मृतिमात्र रह गयी है।

शहीदोंकी चिताओंपर लगेंगे हर बरस मेले।
वतनपर मरनेवालोंका यही बाकी निशां होगा॥

झांसी पहुँचनेपर हम लोग ठहराये गये रानी लक्ष्मीबाई हाईस्कूलमें—ठीक दुर्गके सामने। नवरात्रके दिन थे। झांसीमें देवीका बड़ा भारी मेला चल रहा था। उस भीड़ भड़क्केमें भी हम लोगोंने झांसीका सबसे बड़ा लक्ष्मीताल देखा। उस तालके पार पहाड़ीपर दुर्गाजीका वह मन्दिर भी देखा जिसकी आड़में अंग्रेजोंने इस आशासे अपना अड्डा जमाया था कि रानी लक्ष्मीबाई मन्दिरपर तोप नहीं चलायेंगी। पर दुर्गाजीकी रक्षाका रहस्य तो रानी जानती थी। मन्दिर गिरे तो गिरे। बस, उन्होंने गोला चलवा ही तो दिया। मन्दिर भी कुछ अवश्य ढहा पर अंग्रेजोंकी कूटनीतिका दुर्ग तो चूर-चूर हो गया। लक्ष्मीबाई सदा इस मन्दिरकी पूजा करने आया करती।

हमने रानीका महल देखा जिसमें आजकल झाँसीकी कोतवाली है। यह जानकर कम अचरज नहीं हुआ कि हमारी सरकार भी उसमें कोतवाली ही रखना चाहती है। अब तो उसे सारे भारतके लिए पूजा-घर बना देना चाहिए। उसमें रानीकी मूर्ति रखवाकर उसकी दीवारोंपर वह सारा इतिहास लिखवा डालना चाहिए, जिसने सन् '५७ में अपना लहू देकर भारतके मुँहकी लाली रखी थी। उस महलके बीच एक कुआँ है, जिसमें-से कहा जाता है कि दिल्ली, ओरछा और दुर्गमें सुरंगें जाती हैं, पर अब सुरंगें बन्द हैं। कौन उसमें घुसकर प्राण दे? झांसीका दुर्ग रविवारको ही सबके लिए खुलता है, इसलिए हमें दुर्ग देखनेके लिए अलग पट्टा लेना पड़ा।

झाँसीका दुर्ग कुछ कम बड़ा नहीं है। नौ तो उसमें फाटक हैं, और उसमें कुछ सुरंगें भी हैं जिनमें होकर रानी अपने महलोंसे दुर्गमें आया करती थीं। आँखोंमें आंसू भरकर हमने वह कुआँ भी देखा, जिसमें रानीने विजयकी आशा छोड़कर गहने और दुर्गकी कुञ्जियां फेंक दी थीं।

× × × ×

अब ओरछाकी बारी आयी। झांसीसे ओरछा कुल पन्द्रह मील है। हम लोग बससे थोड़ी ही देरमें जा पहुँचे। ओरछामें बड़े पुराने-पुराने बहुत-से मन्दिर हैं और सबके साथ कोई न कोई अनोखी कहानी भी जुड़ी हुई है। वहीं राजा छत्रसाल और रानी सारन्धाका सुन्दर भवन भी है। पर ओरछाका सबसे सुहावना स्थान वह है, जहाँ बेतवा नदी बहती है। पचासी लोग स्कूलके नलके नीचे नहाने लगें तो सारा दिन निकल जाय। इसलिए बेतवा नदी देखते ही हम सबकी बाँछें खिल गयीं। हम लोग झट नहानेके लिए उतर पड़े। वाह, क्या ठंढा जल था! बेतवा (वेत्रवती) के उस पार न जाने कितने पुराने मन्दिर उसकी उछलती लहरोंमें अपनी झांकी ले रहे थे। बहावमें ऐसा खरेर और तरखा था कि घुटनेभर पानीमें भी हाथ पकड़-कर खड़ा नहीं हुआ जा रहा था। वह साथ-साथ नहाना, एक दूसरेपर पानी उछलना, हँसना किलकारी मारना, कितना प्यारा—कितना अच्छा लगता था!

× × × ×

ओरछा घूमकर हम लोग वससे ही **दतिया** चले गये। कुल बीस मील ही तो था। दतियामें हमें खींचकर ले गया था वहाँका विचित्र चौदह खण्डवाला 'भूतिया महल', जिसके सात खण्ड धरतीके ऊपर और सात खण्ड धरतीके नोचे वने हुए हैं। उतरकर हम लोग ज्योंही वहाँ पहुँचे, तो बताया गया कि वहाँ ले जानेवाले सज्जन चाबी लेना ही भूल गये। इसलिए कुछ लोग तो कुंजी लानेके फेरमें चल दिये और इधर-उधर घूमते, वैठते, चावी और चावीवालों भी वाट जोहने लगे। हम लोग वहाँ घण्टों ही वैठे रहे होंगे। चावीके फेरमें साँझ हो चली और हम लोगोंने समझ लिया कि वस वाहरसे ही इसे देख-देखकर अपना-अपना जो समझा लेना पड़ेगा। सबका जी छोटा हो चला। उन भूतोंसे मिलनेके लिए और भी जी मचल उठा। पर जहाँ चाह वहाँ राह, चाभी मिले या न मिले, महल विना देखे तो हम टस-से-मस नहीं होंगे, यह सोचकर हम लोग पहाड़ीपर चढ़े और देखा कि पीछेसे महलमें जानेकी बटिया बनी हुई है। फिर क्या था, हम लोगोंने महलपर धावा बोल दिया। जो मंडली चावी ढूँढ़ने गयी थी, वह अभी तक चाभीके चारों ओर चक्कर काट रही थी। इधर हम लोग बिना चाबीके महलमें मालिक वनकर घुस गपे थे।

ज्योंही हम सव उस सूनसान भवनमें घुसे कि वह उजाड़ खण्ड गूँज उठा। उसके पुराने खण्डोंमें उलटे लटके चमगादड़ पँख फड़फड़ाकर उड़ पड़े। उनकी बीटों और देहोंसे जो सड़ी दुर्गन्ध निकल रही थी, उससे नाक फटी जा रही थी। साँस लेना दूभर हो चला था। हम लोग खड़ियासे लकीर बनाते हुए एक खण्डसे दूसरे खण्ड चढ़ते हुए चौदहवें खण्डपर ऊपर पहुंच गये, जहाँसे दूर मीलोंतक फैला साँझकी ललाईमें नहाता हरियाला समथल कितना प्यारा दिखायी दे रहा था! उसी समथलके बीच बेतवा नदी हरहराती-लहराती चली जा रही थी। दूरपर झाँसी और ओरछाके दुर्ग उस डूबते हुए सूरजकी ललाईकी छाप अपनी छाती पर छाये उस साँझमें भी कितने दमक रहे थे!

हम लोग ४-५ ही खण्ड उतर पाये थे कि बची टोली भी चाभीसे फाटक खोलकर ऊपर बढ़ चुकी थो। ऊपरके सात खण्ड तो हमने देखे, पर साँझका चढ़ता अँधेरा, नाक फाड़नेवाली बढ़ती दुर्गन्ध और नीचे न जाने क्या हो इसका डर, सबने मिलकर यही कहा कि 'इतना बहुत है, निकल चलो बाहर।' हमारे साथकी दूसरी टोली अपने साथ गैसका हंडा ले गयी थी। उनके साथ पन्थ बतानेवाला एक आदमी भी था। पर उस भूतिया-महलकी भूलभुलैयामें उन्हें निकलनेको पन्थ न मिल पाया। हमारी टोली भो थककर तितर-बितर हो गयी। सब इतने दूर होकर बिखर पड़े कि किसीको एक दूसरेका कोई ठिकाना नहीं। साँझकी बात, नयी बस्ती, जान-पहचानका कोई नहीं, सब एक दूसरेसे अलग! यह तो समझिये कि हम सब पुण्यात्मा थे। कुछ घण्टों चलकर हम लोग सब मिल गये और राम-राम करते झाँसी लौट आये।

झाँसीसे हम लोग **ग्वालियर** चले आये और पूरे दिनभर वहाँका दुर्ग देखा, जिसमें पहाड़ियाँ काट-काटकर बहुत वड़ी-वड़ी जैन-मूर्तियाँ वनायी गयी हैं—इतनी बड़ी कि एक

मूर्ति ५४ फुटकी, हम लोगोंसे दस गुनी ऊँची-ऊँची ! दुर्गमें एक अत्यन्त सुन्दर पुराना मन्दिर है जिसकी पच्चीकारी, बनावट और गढ़न देखकर यह समझमें आने लगता है कि भारतमें यह कला कभी कितनी बढ़ी-चढ़ी रही होगी । मानमन्दिरके खम्भोंको देखकर तो यही कहते बनता है । यही बातें सहस्रबाहुके मन्दिरकी है, जिसे लोग अब बिगाड़कर 'सास-बहू'का मन्दिर कहने लगे हैं । इसी दुर्गमें प्रसिद्ध-सिन्धिया कालेज है, जो भारतके सर्वश्रेष्ठ विद्यालयोंमें एक गिना जा सकता है ।

ग्वालियरके दुर्गसे उतरकर हम लोग **सांची** की ओर चल दिये । रेलमें बैठे-बैठे दूरसे ही साँचीका पुराना और विशाल स्तूप ऐसा लगता है; जैसे यहीं पासमें हो । हम लोग वहाँ उतरकर लगभग २४ घण्टे रहे । स्तूपके चारों फाटकोंपर जो पत्थरपर बारीक कटावका काम किया गया है, वह देखते ही बनता है । अंग्रेजोंने समझा था कि इस स्तूपमें कुछ वैसा ही माल-टाल होगा, जैसा मिस्रके पिरामिडोंमेंसे निकला । लेकिन 'खोदा पहाड़, निकली चुहिया !' 'झख मारकर उन्होंने उसे फिर ज्यों-का-त्यों मुँदवा दिया। स्तूपके चारों ओर एकसे बढ़कर एक चिकने सुन्दर खम्भे हैं, जिन्हें बड़े-बड़े लखपती बौद्ध यहाँ आ-आकर बनवाते रहे हैं । इसीके पास हमने वह नया स्तूप भी देखा, जिसमें सन् १९५२ में नेहरूजीने बुद्धके अग्रश्रावक (सबसे बड़े चेले) सारिपुत्त (सारपुत्र) और मोग्गलान (मोद्गलायन) की हड्डियाँ रखी थी ।

साँचीसे लगभग १५ मीलपर **उदयगिरि** की चौदह गुफाएँ हैं, जिनमें पहाड़ी काट-काटकर सैकड़ों मूर्तियाँ बनायी गयी हैं । साँचीमें हम लोगोंका मन इतना रम गया था कि वहाँका सुहावना सबेरा छोड़नेको जी नहीं चाहता था, पर लौटना तो था ही । इसलिये मन मारकर हम लोग भोपालके लिए चल ही पड़े ।

भोपाल हमारा अन्तिक पड़ाव था । भोपालमें हमारी बहुत आवभगत हुई । हम लोग लौटनेकी इतनी हड़बड़ीमें थे कि बस, बसपर बैठकर ही हम लोगोंने नवाबोंके उस सुन्दर नगरका चौफेरा कर लिया । यह नगर दो बड़े-बड़े तालोंके चारों ओर बसा हुआ इतना सुन्दर है कि एक नैनीताल आँखोंके आगे नाच उठता है । सांझको हम लोगोंने वहाँ समूहयोजना शिक्षा-केन्द्र (कम्युनिटी प्रोजेक्ट ट्रेनिंग सेण्टर) देखा, जहाँ हमें मुर्गी-पालन, चलचित्र आदि दिखाये गये और भरपेट जलपान कराया गया ।

यहीं हमारी यात्रा पूरी हो गयी । भोजन कर चुकनेपर हम लोग भोपालसे रातको एक बजे **काशी** के लिए चल पड़े और चौबीस घण्टेकी लम्बी यात्रा हँसते-गाते, उछलते-कूदते पूरी करके सकुशल काशी लौट आये ।

•

बहुत जल्द अवतार ले लो कन्हैया !

बढ़ा वंश है कंसका फिर धरापर,
बहुत जल्द अवतार ले लो कन्हैया !!

चली पश्चिमी सभ्यता पूतना बन,
मिटाने हमें रूप अनुपम सजाकर।
बड़े लाड औ' प्यारसे मुस्कुराती,
पिलाने लगी दूध विषको मिलाकर ॥

तुरत खींचकर प्राण इस राक्षसीका
बचा लो हमें आज जसुदाके छैया !

रहा जो हमारा अमृतका सरोवर
बनाया उसे विषधरोंने विषैला।
सदा चमकता स्वच्छ दर्पणसदृश जो
सलिल, हो गया आज निस्तेज मैला ॥

जहरसे झुलस सब गये नील-अम्बुज
चले आओ फिर आज काली-नथैया !

जरासन्धने सिन्धकी भूमि ले ली
हमारी बदल ही गयी रूपरेखा।
बने हैं शिविर निशिचरोंके बहुत-सी
बनायी बिगाड़ी गयी शान्ति रेखा ॥

बहुत आपदाएँ घिरी हैं धरापर
तुम्हीं आ के हल कर दो हलधरके भैया !

—श्री अनिरुद्धप्रसाद त्रिपाठी 'राकेन्दु'

गीता : एक समीक्षा

श्री शान्तिस्वरूप गुप्त

★

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (यजुर्वेद)

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि गीताका सम्पूर्ण कर्मयोग-सिद्धान्त इसी वेद-मन्त्रपर आश्रित है—'कर्म करते हुए संसारमें सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करो। यह सिद्धान्त न तो तुम्हें विपरीत मार्गकी ओर अग्रसर होने देगा और न इस प्रकारका कर्म करनेसे कोई बन्धन ही होगा।'

कर्म भला हो अथवा बुरा, बन्धनका का कारण तो होता ही है। लेकिन वेद जो कर्म करनेके मार्गका निर्देश करता है–और उसे कर्म-बन्धनका कारण नहीं बताता, इसमें वेदका कुछ विशेष आशय अवश्य है।

मनुष्यकी कर्म करते समय जैसी भावना होती है और उसकी जैसी छाया अन्त:करण-पर पड़ती है, उसीका नाम पाप अथवा पुण्य है। लेकिन जिन कर्मोंको मनुष्य उदासीन दृष्टिसे धर्म समझकर बिना भली या बुरी भावनाके संपादित करता है—और जिसका परिणाम 'सर्व-भूत-हित' होता है, उसका भला या बुरा कोई फल नहीं होता। इसीकी ओर वेद निर्देश करता है। इसीको निष्काम कर्म कहते है और यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है।

मनुष्य किसी भी क्षण निष्क्रिय तो रह ही नहीं सकता। कुछ कर्म तो ऐसे हैं, जो स्वयं सम्पादित होते रहते हैं, और कुछ वह स्वयं अपनी भावनासे प्रेरित होकर कर्तव्य समझकर करता है। किसी भी कर्मका कोई न कोई फल होना तो निश्चित है, लेकिन वह मेरे अधिकारसे बाहरकी वस्तु है। उसका अच्छा या बुरा जो भी फल होगा, उसका भोगना निश्चित है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

तो जिस वस्तुपर मेरा अधिकार नहीं, उसके परिणामके विषयमें मैं चिन्ता क्यों करूँ? यह मार्ग यद्यपि प्रशस्त है, लेकिन इसका पालन करना अत्यन्त कठिन है। इसे किस प्रकार व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है, इन्हीं उपायोंका भगवान् कृष्णने साधारणतया मनुष्य-मात्रके लिए एवं विशेषतया अर्जुनके लिए अपनी गीतामें वर्णन किया है–जो परिस्थितिवश 'किं कर्म किम कर्मेति'—'क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए'के चंगुलमें फँसकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था।

यहींसे गीताका प्रारम्भ होता है। अर्जुनके समक्ष बड़ी विकट समस्या उपस्थित है, एक ओर तो आततायी कौरवोंका नाश करके अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मी प्राप्त करना, दूसरी ओर अपने गुरुजन एवं स्वजनोंका वध ! जब वह इस द्विविधामें अपने कर्तव्यका कुछ स्वयं निश्चय नहीं कर सका, भगवान्‌को आत्मसमर्पण करके उनसे इसका उपाय जानना चाहता है। प्रारम्भ होता है, अर्जुनके इस विषादसे। इसे गीताने 'विषाद-योग' नाम दिया है, लेकिन विषाद 'योग' कहाँ ? वह तो 'कुयोग' है। इसी कुयोगके निवारण हेतु भगवान् अगले अध्यायोंमें सर्वप्रकारके सुयोगों द्वारा कुयोगरूपी शत्रुओंसे अर्जुनकी रक्षा करके उसे कर्तव्य कर्मकी ओर अग्रसर करते हैं।

गीताका प्रारम्भ 'कुरु' एवं अन्त 'करिष्ये'में होता है। विषाद-योगका एक महत्त्व और भी है। मनुष्य जब बन्धनमें पड़कर आक्रान्त हो जाता है, तब वह उससे मुक्त होनेका प्रयत्न भी करता है। युद्धसे पूर्व अर्जुन यदि मोहाक्रान्त न हुआ होता, तो भगवान्‌के हृदय-रूपी समुद्रसे गीता-जैसे रत्नकी उपलब्धि किस प्रकार संभव थी।

गीताके निमित्तसे भगवान्‌ने न केवल अर्जुनका ही विषाद दूर किया, अपितु 'किं कर्म किमकर्मेति' की स्थितिमें आपन्न प्रत्येक मानवके जीवनमें आनेवाले विषादसे मुक्ति दिलाकर उसे आत्मानन्द-प्राप्तिके उच्च मार्गपर अग्रसर करनेका प्रयत्न किया है।

अर्जुनके विषादका कारण यह था कि धृतराष्ट्रने युद्धसे पूर्व पाण्डवों के पास संजयको भेजकर कपटपूर्ण धार्मिक उपदेश देकर उनके मनोबलको नष्ट करके उन्हें पथभ्रष्ट करनेका षड़यन्त्र किया था। अर्जुन ऋजु (सीधा-सादा निश्छल व्यक्ति) था। अतः संजयके कपट-उपदेशका सबसे विनाशकारी प्रभाव अर्जुनके कोमल हृदयपर ही हुआ। अर्जुनने युद्धसे उपरत होनेके लिए भगवान्‌के सामने जो दो तर्क उपस्थित किये हैं, वे ज्यों-के-त्यों या साधारण परिवर्तनके साथ सञ्जययान-पर्वमें विद्यमान हैं।

युद्धसे विरक्त होनेके तीन मुख्य कारण अर्जुनने भगवान्‌के समक्ष उपस्थित किये हैं।

(१) अपने पूज्य एवं निकटस्थ सम्बन्धिओंका विनाश और उसका विनाशकारी परिणाम।

(२) उनके मारनेमें धर्मकी हानि।

(३) इस अधर्मसे बचनेके लिए स्वधर्मका त्यागकरके कर्म-संन्यास ग्रहण करना :

उपर्युक्त तीन समस्याओंके समाधानके लिए ही गीताका समग्रज्ञान आवश्यक हो गया है।

ऐसे विषम समयमें, जब शत्रु युद्धके लिए सामने उपस्थित है, अर्जुनको युद्धसे उपरत देखकर भगवान् इस स्थितिसे उसका निस्तार करनेके लिए सर्वप्रथम उसे 'सांख्य'शास्त्रके द्वारा जड़-चेतनके ज्ञानसे प्रारम्भ करते हैं। 'संख्या'शब्दसे सांख्यशब्दका बोध होता है।

पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम्।

(मधुसूदनी, गीता १८.३३)

संख्या—सम्यक् ख्यानम् इति।

तत्त्वनिर्णयके लिए विचार, अथवा आत्मविषयक निश्चित ज्ञानका नाम ही सांख्य है, अतः भगवान् सर्वप्रथम जड़, चेतनकी संख्या निश्चित करके उस तत्त्वज्ञान द्वारा मोह दूर करनेकी चेष्टा करते हैं। क्योंकि अपने परायेका भेद (जो इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है) समझे विना मोहका सर्वथा निराकरण सम्भव नहीं था।

संसारमें दो प्रकारके पदार्थ हैं : प्रथम जीवित (अगतासु) द्वितीय 'मृत' (गतासु)। अतः जो पण्डितजन हैं (पण्डा+इत) जिन्हें अपने आत्माका यथार्थ ज्ञान है—वे इन दोनोंके लिए शोक नहीं करते। क्योंकि ज्ञानी भली प्रकार समझता है कि जीव तो कर्मकलाके अनुसार वारबार जन्म लेकर वार-वार मरता है। अतः इस शरीरका धर्म अथवा स्वभाव तो केवल नाश और उत्पत्ति है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

उसके लिए पण्डितजन शोक नहीं करते। 'शरीर' शब्दका अर्थ ही है 'शीर्यते'—नष्ट होनेवाला। लेकिन इसमें रहनेवाला आत्मा तो अविनाशी है—वह न जन्म लेता है, न मरता है। बालपन, तरुणावस्था, जरा एवं मृत्यु ये सब शरीरके धर्म हैं। अन्तरमें रहनेवाला आत्मा सदा नित्य है। अतः मनुष्यके दो रूप हुए : एक मर्त्य दूसरा अमर्त्य। मनुष्य केवल इसके मर्त्यरूपमात्रसे ही परिचित हैं, अन्तरकी अमर सत्तासे नहीं। अतः जो लोग इसकी अमर सत्तासे परिचित हैं, वे इस शरीरके विनाशसे दुःखी नहीं होते। कठोपनिषद्में लिखा है :

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

'यह शरीर प्राण और अपानके सहारे नहीं, वरन् उस आत्माके सहारे जीवित है जिसमें ये दोनों आश्रित हैं।' अतः इस शरीरका मरनेवाला रूप साकार एवं स्थूल और न मरनेवाला रूप है निराकार और सूक्ष्म। इसलिए, भगवान् कहते हैं : 'अर्जुन! मैं और ये कौरवादि योद्धागण पहले भी विद्यमान थे, अव भी हैं और आगे भी रहेंगे। इनमें जो नित्य वस्तु आत्मा है, वह न तो शरीरके साथ जन्म लेता है, न मरता ही है और न मरेगा ही। अतः तेरा यह भ्रम निर्मूल हो गया कि तेरे बाणोंसे भीष्म आदि आचार्यों एवं कौरवोंका नाश होगा।

अव दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि शरीर नष्ट होनेपर आत्माका क्या होता है? शरीरमें आनेवाले बालपन, तरुणाई, जरा एवं मृत्युका आत्मापर तो कोई प्रभाव पड़ता नहीं। जन्म-मृत्युका यह चक्र तो चलता ही रहता है। अथर्ववेदमें लिखा है :

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

(अथर्व० १०.८)

जीवात्मा सनातन और नित्य है। अतः मनमें प्रविष्ट हो सकनेवाला यही एक देव है। इसलिए : मन और बुद्धिमें आत्मा विराजमान रहकर बार-बार जन्म लेता और बार-बार मरता रहता है।

वेदने जीवात्माके जन्म, वार्धक्य, क्षय और पुनर्जन्मकी तुलना चन्द्रमासे की है। चन्द्रमामें भी जीवकी भांति षोडश-कलाएँ है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल पक्षकी प्रतिपद्को जन्म लेकर अष्टमीतक बाल एवं पूर्णिमातक पूर्ण तरुण होकर कृष्णपक्षकी अष्टमीसे क्षीण होता हुआ अमावास्यातक समाप्त हो जाता है और शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे पुनः जन्म ग्रहण करके 'पुनर्णवः' पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन-सा हो जाता है; उसी प्रकार जीव भी बार-बार जन्म लेता और मरता रहता है। इसीलिए जीवको 'मातरिश्वा' (माताके गर्भमें रहनेवाला) कहा गया है। अतः यह निश्चित सिद्धान्त है कि मृत्यु और जन्म इस देहके धर्म हैं। माता, पिता, गुरु आदि सम्बन्ध केवल इस नश्वर देहके साथ ही हैं। वस्तुतः आत्मा न तो किसीका पिता है, न पुत्र, न गुरु और न शिष्य। अतः जिन सांसारिक सम्बन्धोंके कारण सुख दुःख मिलता रहता है, वे भी नित्य नहीं हैं।

इन्द्रियोंके साथ जब विषयोंका सम्पर्क हो जाता है, तभी सुख-दुःख आदिकी अनुभूति होती है। अतः इनमें मोहग्रस्त न होकर इन्हें सहन कर लेना ही श्रेयस्कर है।

जो धीर पुरुष इन्द्रियजन्य सुखोंमें आसक्त नहीं होता वही वास्तवमें आत्यन्तिक सुखका अधिकारी हो सकता है। पञ्चमहाभूतोंके जितने (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श) विषय हैं, वे जब अपने-अपने गुणवाली इन्द्रियोंके जितने सम्पर्कमें आते हैं उतने तब सुख-दुःखका अनुभव होता है। अतः मात्रास्पर्शजन्य सुख भी क्षणिक हैं। स्थायी नहीं। अतः 'तांस्तितिक्षस्व भारत'— इनको सहन करनेमें ही कल्याण है। द्वन्द्वसे उत्पन्न इन हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःखका निराकरण तितिक्षा द्वारा ही किया जा सकना सम्भव है। जो धीर पुरुष इन द्वन्द्वोंसे व्यथित नहीं होता, वही वास्तवमें अमृतपद पानेका अधिकारी हो सकता है।

अब यदि शरीरके साथ-साथ आत्माको भी उत्पन्न होने वाला और मरणशील मान लिया जाय तब भी जन्म लेने वालेकी मृत्यु निश्चित है और जब कोई भी जीवित प्राणी मृत्युके चंगुलसे बच नहीं सकता तो फिर मरने वालेके लिए शोक कैसा ?

स्वजनोंके नाशकी अर्जुनकी प्रथम आपत्तिका प्रत्येक दृष्टिकोणसे निराकरण करके अब उसकी दूसरी समस्या 'धर्मनाश'का भी निराकरण करनेका भगवान् प्रयत्न करते हैं।

अर्जुन समझता है कि ऐसा युद्ध करना पाप है, पर भगवान् कहते हैं कि यह तो धर्मयुद्ध है। आततायी कौरवोंने तुम्हारा न्यायोचित राज्य नहीं लौटाया, उलटे उन्होंने मर्यादाके विरुद्ध तुमपर अनेक अत्याचार भी किये, लाक्षा-भवनमें जलानेका प्रयत्न किया, भद्रताकी सारी मर्यादाएँ तोड़कर द्रौपदीको भरी-सभामें नग्न करनेका प्रयत्न किया, वन जाते समय तुम लोगोंके पुरुषार्थकी खिल्ली उड़ायी, अन्तमें उसके समस्त वैध उपायों द्वारा केवल पाँच

गांव माँगनेपर 'सूच्यग्रं न प्रदास्यामि विना युद्धेन केशव' कहकर अस्वीकार कर दिया—ऐसे आततायियोंको तुम अपना स्वजन कैसे मानते हो ? ऐसा मानना शास्त्र और नीतिसे विरुद्ध है ।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशमप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ (मनु)

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित् ॥
माता पिता च भ्राता च, भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥

अतः भीष्म, द्रोण आदि जो धर्मकी मर्यादाका उल्लंघन करके केवल 'अर्थस्य पुरुषो दासः'की भावनासे युद्ध करने आ पहुँचे हैं, ऐसे अन्यायियोंको मारकर जो स्वधर्मका पालन करता है वह मनुष्य कभी पापी नहीं हो सकता । अतः इस युद्धको स्वधर्म समझकर, कर्तव्य समझकर युद्ध करो, इससे तुम्हें कभी पाप नहीं लगेगा ।

अर्जुनकी दूसरी आपत्तिका भी निराकरण करके अब भगवान् उसकी तीसरी समस्याका समाधान करते हैं कि इन स्वजनोंको मारकर राज्य भोगनेकी अपेक्षा संन्यास लेकर भिक्षावृत्तिसे जीवन यापन करना अच्छा है ।

भोगवाद और त्यागवाद ये दो वाद सदासे ही मानव-जीवनमें चले आ रहे हैं। भोगवाद दो प्रकारका होता है : एक दृश्य, दूसरा अदृश्य । स्त्रियाँ, सुन्दर भोजन एवं ऐश्वर्यका उपभोग तो दृष्ट हैं और स्वर्ग आदि काल्पनिक भोगोंकी कल्पना अदृष्ट है । इन दोनोंसे ही उपरत होकर 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयोः विदुः'—यह है वास्तविक संन्यास । अब तुम इन दोनोंमेंसे कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहते हो ? कर्तव्य, अथवा स्वधर्मका त्याग-कर कर्म संन्यास लेना सिद्धान्ततः ही निषिद्ध कर्म है ।

अन्यायके विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रियका स्वधर्म है । पारिवारिक मोहके पीछे राष्ट्र-हितकी उपेक्षा करना भी तो पाप है । अन्यायियोंको यथोचित दण्ड न देनेसे समस्त समाज दूषित हो जाता है । अतः राष्ट्रहितके लिए व्यक्तिकी बलि देनी ही होगी । मनुष्य-जीवनके चार पुरुषार्थ हैं : १. **धर्म** अर्थात् कर्तव्य-पालन । २. **अर्थ** धन कमाना । ३. **काम** धर्मानुकूल भोग । और ४. **मोक्ष** स्वातंत्र्य-प्राप्ति ।

यहाँ तुम मोहके वशीभूत होकर जीवनके फल-चतुष्टयसे मुँह मोड़कर कह रहे हो—'मुझे सुख नहीं चाहिए, राज्य नहीं चाहिए, विजय नहीं चाहिए, अंतमें मोक्ष अथवा बंधनसे निवृत्ति भी नहीं चाहिए ।' इसका अर्थ यह हुआ कि जिस कार्यके लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, उससे भी विमुख हो रहे हो । तुम्हारे धर्मविमुख होनेसे अन्य साधारण मनुष्योंपर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ —गीता ३-२१

कुटुम्बके मोहमें पड़कर तुम जो राष्ट्रकार्यसे मुँह मोड़ रहे हो, इस अधर्म-कार्यका अन्य लोगोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा ? मनुष्य स्वतंत्र प्राणी नहीं है। समाजके साथ उसका संबंध है। अतः समष्टिके लिए उसे अपने व्यक्तिका बलिदान करना होगा। राष्ट्रहितके लिए अपने कौटुम्बिक हितसे ऊपर उठना होगा।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे चात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

अतः जो मनुष्य

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

जो सब प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सब प्राणियोंको देखता है, वही विश्वको जानता है। अतः विश्वके हितके लिए अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थका त्याग करना होगा। राष्ट्रहिसके लिए आततायी कौरवोंका वध करना ही होगा। वैयक्तिक रूप छोड़कर विश्वरूप धारण करना ही होगा। ऐसा करनेसे कर्तव्यपालनमें न शोक रह जाता है, न मोह। अतः 'क्षुद्रं हृदयदौर्वल्यं त्यक्त्वा' अपने कर्तव्यका पालन करे। 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'—तुम वीर हो, इस समय 'एतत् त्वयि न उपपद्यते'–तुम्हारे मनकी दुर्बलता इस समय तुम्हें शोभा नहीं देती।

संसारकी रचना परमेश्वर करता है। वही जीवोंके जन्म, मृत्युकी योजना करता है तो तुम कैसे अपनेको इनका मारनेवाला मान बैठे हो ? तुम्हारे द्वारा इनका वध न होनेपर भी क्या ये सदा अमर ही बने रहेंगे ? जीवात्मा अमर है : 'अस्य विनाशः कर्तुं कश्चित् न अर्हति इसका विनाश करनेमें कोई समर्थ नहीं हैं।

'नायं हन्ति न हन्यते' (कठोप०)—यह न मरता है, न मारता है। 'नाकालतो म्रियते जायते वा' (महा०)—कालके बिना न कोई मनुष्य जन्मता है और न कालके बिना कोई मरता है।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।

ये योधागण बिना तेरे वध किये भी जीवित नहीं रह सकेंगे। जीवात्मा तो मरनेसे पहले जब दूसरे शरीरका बन्दोबस्त कर लेता हैं, तब इस शरीरको छोड़ता है—

एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्य। विद्यां गमयित्वा-
ऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ।

—बृहदारण्य क० ४.४.३.४

भगवान् के इन तर्कोंके सामने अर्जुन निरुत्तर हो गया उसके सब संशय मिट गये। उसे अपने कर्तव्यका ज्ञान हो गया एवं भगवान्से 'करिष्ये वचनं तव'—कहकर वह युद्धके लिए उद्यत हो गया। ●

प्रीतिकी बात

प्रीतिकी बड़ी अनूठी बात।
सब कुछ छाँड़ि भजै जो प्रियतम ताके उर सरसात॥
जो सुख चहै ताहि अति दुरलभ, दुख हू सो दुरि जात।
सुख-दुख छाँड़ि भजै जो प्रियतम, तो दिन दिन अधिकात॥ १॥

प्रियकौ दियौ दुःखहू मनमें सत सुखसों बढ़ि जात।
प्रियके बिना स्वर्ग-सुख हूँ नरकानल सरिस लखात॥ २॥
प्रियकौ नाम-रूप सरवस सब प्रिय सम ही सरसात।
प्रियसों रञ्चक भेद न भासै, और न कछु अपनात॥ ३॥

प्रिय बिनु पलहुँ कलोपसम भासै उरमें अति अकुलात।
जैसे मीन वारि बिनु तलफत तैसे तनु तरसात॥ ४॥

ऐसी प्रीति बढ़ै जब प्रियसों भेद सबै दुरिजात।
प्रियतम-प्रेमी दोउ घुल-मिल तब प्रीतिमात्र दरसात॥ ५॥

'सनातन'

स्वामी श्री विवेकानन्द और अस्पृश्यता

श्री जयदयाल डालमिया

★

२ अप्रैल १९६९ को लोकसभामें जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके हिन्दू-धर्म-सम्मेलन, पटनामें दिये गये भाषणकी आलोचना करते समय किसी एक सदस्य महोदयने कहा था : 'उन्होंने (श्रीशंकराचार्यजीने) शास्त्रोंका विवरण दिया है, मैं भी यहाँ स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्दको कोट (quote) कर सकता हूँ। उन्होंने कहा है कि ऐसा किसी भी शास्त्रमें नहीं है। इसलिए जो कोई भी ऐसी बातें कहते हैं, उनके अपने मनमाने बनाये हुए शास्त्र होगें।'

स्वामी विवेकानन्दजी महाराजने खान-पानके सम्बन्धमें अपने विचार अपनी 'प्रेम -योग' नामक पुस्तकमें दिये हैं। उन्होंने कहा है :

'हमें खाने-पीनेकी चीजोंके सम्बन्धमें श्री रामानुजाचार्यके आदर्शके अनुसार सावधानी रखनी चाहिए।' श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ ९, पंक्ति २ से ४ श्री रामानुजाचार्यके आदर्शोंका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :

१. 'प्रथम तो जाति-दोष अर्थात् आहारके स्वाभाविक गुण या किस्मकी और ध्यान देना चाहिए। सभी उत्तेजक वस्तुओंका, उदाहरणार्थ मांस आदिका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि यह स्वभावतः ही अपवित्र वस्तु है। दूसरेका प्राण लेकर ही हमें मांसकी प्राप्ति होती है। हम तो क्षणमात्रके लिए स्वाद-सुख पाते हैं, पर उधर दूसरे जीवधारीको हमें यह क्षणिक स्वाद-सुख देनेके लिए सदाके लिए अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ता है। इतना ही नहीं, वरन् हम दूसरे मनुष्योंका भी नैतिक अधःपतन करते हैं।'

—वही, पृष्ठ ४, पं० ५-१३।

२. 'भोजनके सम्बन्धमें दूसरी बात है : आश्रय-दोष। यह पाश्चात्योंके लिए और भी जटिल बात है। आश्रयका अर्थ है, वह व्यक्ति जिसके पाससे भोजन मिला। यह हिन्दुओंका एक रहस्यमय सिद्धान्त है। इसके पीछे यह तर्क है कि प्रत्येक मनुष्यका अपना एक वातावरण (aura) होता है और **जिस किसी वस्तुको वह छूता है, उस वस्तुके साथ मानो उस मनुष्यकी प्रकृति या आचरणका कुछ अंश, प्रभाव रह जाता है।** जैसे प्रत्येक मनुष्यके शरीरसे सूक्ष्म परमाणु (affluvia) निकला करते हैं, उसी तरह उसके आचरण **या भाव** भी उसके बाहर निकलते रहते हैं और **जब कभी वह किसी वस्तुको छूता है तो उस वस्तुमें वे लग जाते हैं।** अतः हमें इस बातकी सावधानी रखना चाहिए कि **पकाते समय हमारे भोजनको किसने स्पर्श किया? किसी दुष्ट-प्रकृति या दुराचारी मनुष्यने उस भोजनको स्पर्श तो नहीं किया।'**

—वहीं, पृष्ठ ५, पं० ८-२१।

३. 'तीसरी बात है; निमित्त-दोष। यह समझनेमें बहुत सरल है। मैल, धूल आदि भोजनमें न हों। ऐसा न हो कि बाजारसे खाद्य-पदार्थ ले आये और उन्हें बिना धोये ही थालीमें खानेके लिए परोस दिया। उनमें संसार-भरका कूड़ा-कर्कट और धूल भरी हुई है। मुखकी लार, थूक आदि वस्तुओंसे हमें परहेज़ करना चाहिए। जब परमात्माने हमें चीजोंको धोनेके लिए यथेष्ट जल दे रखा है, तो हमारी ओठोंको छूनेकी और थूक द्वारा हरएक चीजको स्पर्श करनेकी आदत कैसी गन्दी और भयानक है। Mucous membrane अर्थात् द्रवोत्पादक या श्लैष्मिक झिल्ली हमारे शरीरका एक बड़ा नाजुक भाग है और इससे उत्पन्न लार आदिके द्वारा अनिष्ट प्रभावोंका संक्रमण हो जाना बहुत ही सहज है। अतः इसका स्पर्श दूषित ही नहीं, भयानक भी है। इसके अतिरिक्त, **किसी वस्तुका एक अंश यदि किसी दूसरेने खाकर छोड़ दिया हो तो उसे भी नहीं खाना चाहिए। जैसे किसीने एक सेवका टुकड़ा काटकर स्वयं खा लिया और शेष किसी दूसरेको दे दिया।** आहारमें इन वर्जित बातोंका त्यागकर देनेसे आहारकी शुद्धि होती है। आहारकी शुद्धिसे मनःशुद्धि और मनःशुद्धिसे परमात्माका सतत और निरन्तर स्मरण होता है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। (छान्दोग्योपनिषद्, ७-२६)'

—वही, पृष्ठ ६, पं० १–१९।

स्वामी विवेकानन्दजीकी उपर्युक्त विचारधाराओंके साथ आधुनिक प्रगतिशील समाजके लोगोंके विचारोंका कहाँतक मेल खाता है जो चाहे जिसके हाथकी बनायी वस्तुको न खानेवालोंको 'दकियानूसी' कहते हैं' और जो रेस्टोरेण्ट, होटल तथा बाजारकी दूकानोंकी वस्तुएं, एक-दूसरेकी जूठी वस्तुएँ खानेमें ही अपना गौरव और देश, राष्ट्र तथा समाजका कल्याण समझते हैं।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीके यजुर्वेद-भाष्यसे अध्याय ३० के कई मन्त्रोंकी व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि कई प्रकारके मनुष्योंको दूर बसायें और उनसे संसर्ग न रखें। उनके 'सत्यार्थ–प्रकाश' ग्रन्थमें भी बहुत स्पष्ट लिखा है कि चाण्डाल, भंगी आदिके हाथका छुआ न खायें।

इनको मनमाने शास्त्र कहनेवाले लोग वैसा कह भी सकते हैं, क्योंकि 'सत्यार्थ-प्रकाश' तो स्वामी दयानन्दजीका अपना बनाया हुआ शास्त्र है ही।

मूल वेदको तो परमात्माका बनाया सभी लोग स्वीकार करते हैं। वेदके भाष्य भिन्न-भिन्न लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये हैं। इसलिए जो एक भाष्यको न मानकर अपने मनमाने भाष्यको रचना करें, वे दूसरोंके भाष्यको भी मनमाना शास्त्र कह तो सकते ही हैं। ऐसा कहनेमें कोई कानूनी बाधा तो है नहीं। वे यह भी कह सकते हैं कि 'हम तो ऐसे वेद भी नहीं मानते, हम तो स्वेच्छाचारिता ही मानेंगे।' स्वेच्छाचारिताका परिणाम आज स्पष्ट दीख रहा है और कुछ समयके बाद विशेष स्पष्ट हो जायगा।

●

निगमामृत

(पुरुष-सूक्त)

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

वह सर्वस्व-समर्पणमय मख हुआ यदा सम्पन्न,
उससे हुई ऋचाएँ प्रकटित और साम उत्पन्न ।
उससे ही फिर हुआ विविध छन्दोंका आविर्भाव,
और उसीसे हुआ यजुर्मन्त्रोंका प्रादुर्भाव ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥

उसी यज्ञसे मख-उपयोगी अश्व हुए उत्पन्न,
दोनों ओर दांत वाले पशुका उद्भव सम्पन्न ।
उससे ही गौओंका होता संभव प्रादुर्भाव,
भेडों और बकरियोंका भी उससे आविर्भाव ॥

•

सूक्ति-सुधा

(भीष्म द्वारा की गयी श्रीकृष्णकी स्तुति)

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥ ६ ॥

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥ ७ ॥

'शस्त्र नहीं लूँगा' यह निश्चय निगम त्याग
मेरी ही प्रतिज्ञा सत्य कर दिखलानेको,
कूद पड़े रथसे करोंमें रथचक्र लिये
सिंह जैसे टूटे गजराजको गिरानेको।
घोड़े हुए चपल, दुपट्टा गिरा दूर कहीं
धाये जो हठात् मेरा वध कर जानेको,
मुझ आततायीके शरोंसे विद्ध, वर्म-हीन,
रक्तसे नहाये हरि आयें अपनानेको।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज,
वाराणसी–1 में मुद्रित एवं प्रकाशित